॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

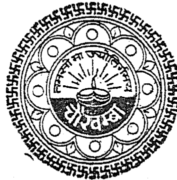
२४३

संस्कृत-गद्य-पद्य-संग्रहः

(प्रथमो भागः)

सम्पादकः—

श्रीबृहस्पतिशास्त्री



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७६

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी

संस्करण : षष्ठ, वि० सं० २०३३

मूल्य : [illegible]

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० ८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)

फोन : ६३१४५

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० १३८, वाराणसी–२२१००१

(भारत)

THE
HARIDAS SANSKRIT GRANTHAMALA
243



SANSKRIT-
GADYA-PADYA-SAMGRAHA

(A Selection of Sanskrit Prose and Verses)

(PART I)

Edited By
Shri Brihaspati Shastri

THE
Chowkhamba Sanskrit Series Office
VARANASI-1
1976

K. 37/99, Gopal Mandir Lane

Post Box 8, Varanasi-221001 (India)

1976

Phone : 63145

Sixth Edition

1976

Price Rs. 6-00

Also can be had of

Chaukhamba Amarabharati Prakashan

Oriental Publishers & Book – Sellers

Post Box No. 138

K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi–221001

(INDIA)

सम्पादकीयम्

साम्प्रतं संस्कृत-भाषायां मूल-संग्रहग्रन्थानां प्रायोऽभावमेवानुभवामि। नहि सर्वैः मूलसंस्कृतसाहित्यस्यागाधस्याऽध्ययनं साकल्येन कर्तुं पार्यते। न च तदध्ययनमन्तरा कालिदास-माघ-बाणादिकवीनां कलाभिः परिचयो भवितुमर्हति। संस्कृताध्ययनपरा अपि बहवश्छात्रा बृहदाकाराः कालिदास-माघ-बाणादि-कविकृतीः सम्यक् परिशीलयितुं नैव शक्नुवन्ति। अतो येन स्वल्पायासेन स्वल्पेन कालेन च सर्वेषामेव प्रसिद्धकवीनां तद्रचनानाञ्च बालः परिचयम्प्राप्नुयादिति बुद्धचा सम्पादितोऽयं संग्रहः छात्राणां संस्कृताध्येतॄणाञ्चोपकाराय कल्पिष्यत इत्याशासे।

अत्र हि संग्रहे प्रायशः सर्वेषामेव प्रसिद्धकवीनां प्रधानग्रन्थानां सुन्दराणि, मनोहराणि, सदुपदेशपराणि च स्थलानि संगृहीतानि। एतादृशं क्रमबद्धं सर्वेषामेव गद्यपद्ययोः ग्रन्थानां प्रतिनिधिस्वरूपं संस्कृत-संग्रह-पुस्तकं नैव प्रकाशितपूर्वमिति मन्ये। अन्यासु भाषासु एतादृशानां संग्रहग्रन्थानां नास्त्यभावः। किन्तु संस्कृते तु नैतादृशमेकमपि पुस्तकं दृष्टम्।

अत्र वेदेभ्य आरभ्य सर्वेषामेव प्रधानकवीनां प्रायः उदाहरणभूता अंशाः समुद्धृताः सन्ति। तत्रापि च कालक्रमेण कवीनां तद्रचनानाञ्च सङ्कलनं प्रधानं वैशिष्टचमेतस्य संग्रहस्य। अत्र पुस्तके भागद्वयं वर्तते—गद्यभागः पद्यभागश्चेति। उभयत्रापि कालानुसारं कवीनां क्रमो निर्धारितः येन सुगमतया छात्राः कवीनां पूर्वापरत्वं जानीयुः, संस्कृत-गद्य-पद्ययोः क्रमिकविकासस्य च ज्ञानं लभेरन्। अस्य संग्रहस्यावलोकनेन स्पष्टमेव शैलीवैलक्षण्यं विलोक्यते।

अत्रोद्धृतेषु सन्दर्भेषु प्रायः सन्धि-विच्छेदं विधायापि पदानि लिखितानि येन छात्राणां सौकर्यं भवेत् । बहुषु स्थलेषु मूलग्रन्थस्य वाक्यानां सरलेन वाक्येन विपरिणामोऽपि कृतः । यथावसरं यथास्थानं च परिवर्त्तनं परिवर्धनञ्च कृतं मूलग्रन्थेषु, सौविध्यदृष्ट्या । प्रायः सरला एव सन्दर्भाः अत्रोद्धृताः कठिनांशा अपि परिवर्त्तनेन सारल्यमापादिताः ।

आशासे यदयं संग्रहः संस्कृताध्येतॄणां छात्राणां सम्यगवबोधाय संस्कृत-साहित्यपरिचयाय च पर्याप्तो भविष्यति । प्रकाशने त्वराकारणात् क्वाचित्काः मुद्रण-भ्रमाः स्खलन-समाधान-शीलैः सद्भिर्विद्वद्भिः क्षन्तव्याः ।

विदुषां विधेयः —

सम्पादकः

विषयसूची

गद्यभागः

पद्यभागः

संस्कृत-

गद्यपद्य-संग्रहः

—:०:—

गद्यभागः

ईश-स्तुतिः

विश्वानि देव सवितर दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव ॥१॥ (वेदः)

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥२॥ (वेदः)

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ३ ॥ (वेदः)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥ (वेदः)

ईश–स्तुति

हे देव सविता (सूर्य) ! हमारे सभी पापों को दूर कीजिए और जितनी भी कल्याणकारक वस्तुएँ हों उन्हें हमारे लिए प्रदान कीजिए ॥ १ ॥

हे देवतागण ! हम लोग अपने कानों से कल्याण की बातें सुनें और यज्ञकर्म करते हुए आँखों से मंगल फल देखें, पुष्ट अंगों वाले शरीर से स्थित रहें तथा जो आयु देवताओं की है उसे हम लोग भी प्राप्त करें ॥ २ ॥

तुम लोग साथ-साथ चलो, एक साथ बोलो और अपने मन में एक ही समान विचार रखो, जैसे पहिले के ज्ञानी देवता लोग एक साथ मिलकर अपना-अपना भाग समानरूप से ग्रहण करते हैं ॥ ३ ॥

तुम्हारे संकल्प एक समान हों, तुम्हारे हृदय एक समान हों, तुम्हारे विचार एक समान हों, जिससे तुम लोगों की गति सहायता करने वाली हो ॥ ४ ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥५॥ (वेदः)
कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं, पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु, भवतां भूतये रामनाम ॥ ६ ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ७ ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ८ ॥
त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव-देव ॥ ९ ॥

—:०:—

इन्द्र, वृद्धश्रवा, पूषा, विश्ववेदा, तार्क्ष्य, अरिष्टनेमी और बृहस्पति हम लोगों को कल्याण प्रदान करें ॥ ५ ॥

कल्याण का खजाना, कलि के पापों को नष्ट करने वाला, पवित्रों को भी पवित्र करने वाला, शीघ्र ही परमपद की प्राप्ति के लिए प्रस्थान किए हुए मोक्ष के इच्छुक का साधन (पाथेय=यात्रा में साथ ली हुई भोजन सामग्री), कवियों की वाणी का एक मात्र विश्राम-स्थान, सज्जनों का जीवन, धर्मरूपी वृक्ष का बीज रामनाम आप लोगों का कल्याण करने वाला हो ॥ ६ ॥

हे अनन्तरूप भगवन् ! तुम्ही आदि देव हो, प्राचीन पुरुष हो, इस विश्व की महान् निधि हो, तुम्हीं सब कुछ जानने वाले और जानने योग्य भी हो, तुम्हीं सबसे महान् तेज हो और हे प्रभु ! तुम्हीं इस जगत् में समाये हुए हो ॥ ७ ॥

हे अनूपमेय प्रभाव वाले प्रभु, तुम इस चर-अचर समस्त संसार के जन्म देने वाले और पालन करने वाले हो, तुम्हीं इस संसार के पूज्य हो, तुम्हीं सबसे महान् गुरु हो । इन तीनों लोकों में तुम्हारे समान ही कोई नहीं है फिर तुमसे अधिक दूसरा कोई होगा ही कहाँ से ॥ ८ ॥

हे प्रभु ! तुम्हीं मेरे माता पिता हो, तुम्हीं मेरे भाई और मित्र हो, तुम्हीं मेरी विद्या हो, तुम्हीं मेरे धन हो, हे देवों से भी पूज्य ! तुम्ही मेरे लिए सब कुछ हो ॥

हरिश्चन्द्रोपाख्यानम्

(ऐतरेयब्राह्मणतः)

[संस्कृतसाहित्ये वेदेभ्यः पश्चात् ब्राह्मणानि जातानि । अत एव प्राचीनतमं गद्यस्वरूपं ब्राह्मणेष्वेवोपलभ्यते । तत्रापि ऐतरेयब्राह्मणस्य प्राथम्यात् तत एवेयं कण्डिका समुद्धृता ।]

हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजा अपुत्र आस । तस्य ह शतं जाया बभूवुः । तासु पुत्रं न लेभे । तस्य ह पर्वतनारदौ गृहे ऊषतुः । स ह नारदं पप्रच्छ ।

'यं न्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न ।
किंस्वित्पुत्रेण विन्दते तन्म आचक्ष्व नारद ॥' इति ॥

एकया पृष्टः दशभिः प्रत्युवाच—

'ऋणमस्मिन् संनयत्यमृतत्वं च गच्छति ।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम् ॥ १ ॥
यावन्तः पृथिव्यां भोगाः यावन्तो जातवेदसि ।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्ततः ॥ २ ॥

हरिश्चन्द्रोपाख्यान

इक्ष्वाकुवंशीय वेधस नाम के राजा के पुत्र राजा हरिश्चन्द्र को कोई पुत्र नहीं था । उसकी सौ स्त्रियां थीं किन्तु उनमें से किसी से पुत्र की प्राति नहीं हुई । उसके घर पर्वत और नारद नाम के ऋषि रहते थे । उसने नारद से पूछा—

इस संसार में जितने जानने वाले हैं (अर्थात् मनुष्य हैं) और जितनी नहीं जानने वाले हैं (अर्थात् पशु आदि हैं) वे सभी पुत्र की अभिलाषा रखते हैं । पिता उस पुत्र से क्या पाता है ? हे नारदजी, इसे मुझे बताइए ।

एक गाथा से पूछे जाने पर नारद ने दस गाथाओं में उत्तर दिया—

यदि पिता जीवित उत्पन्न पुत्र का मुख देख ले तो वह अपने समस्त ऋण (देवऋण, ऋषि ऋण और पितृऋण) को उसके कंधों पर डाल देता (अर्थात् पुत्र द्वारा ऋणमुक्त हो जाता है) और अमरता को प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

पृथ्वी में जितने प्रकार के भोग हैं, अग्नि में जितने भोग हैं और जल में जितने भोग हैं, पिता के लिए उन सभी भोगों से श्रेष्ठ भोग पुत्र में हैं (अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि आदि तत्त्वों से जो भी सुख-दुःख प्राप्त होते हैं उनसे भी महान् सुख-दुःख पिता को पुत्र में मिलते हैं) ॥ २ ॥

शश्वत् पुत्रेण पितरोऽत्यायन् वहुलं तमः।
आत्मा हि जज्ञे आत्मनः स इरावत्यतितारणी ॥ ३ ॥
किन्नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्राह्मण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः ॥ ४ ॥
अन्नं ह प्राणः शरणं ह वासो रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः।
सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता ज्योतिह पुत्रः परमे व्योमन् ॥ ५ ॥
नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः।
एष पन्थाः उरुगायः सुशेवो यं पुत्रिण आक्रमन्ते विशोकाः ॥
तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च' ॥ ६ ॥

पुत्र के उत्पन्न होने से पितर लोग बहुत से कष्टों को पार कर जाते हैं (अर्थात् बहुत से संकटों से मुक्त हो जाते हैं), पिता अपनी ही आत्मा को (पुत्ररूप में) जन्म देता है। वह पुत्र इरावती (अन्नयुक्त नदी) को तारने की नौका है (अर्थात् जैसे नाव नदी को पार कर देती है वैसे ही पुत्र पिता के कष्टों को पार कर देता है) ॥५॥

चाहे गृहस्थाश्रम हो (मल), चाहे ब्रह्मचर्य हो (अजिन), चाहे वानप्रस्थ हो (श्मश्रूणि), चाहे संन्यास हो (तपः) किन्तु इन सभी आश्रमों का सुख इस पुत्रसुख के आगे तुच्छ है। अतः हे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ! तुम सभी भोग पुत्र की कामना करो। संसार में पुत्र अनिन्दनीय होता है ॥ ४ ॥

अन्न प्राण है (अर्थात् अन्न से प्राणों की रक्षा होती है), वस्त्र रक्षक है (शीतादि से वचाने वाला है), सोना रूप है (अर्थात् सौन्दर्य को बढ़ाने वाला है), पशु विवाह है (पशु विवाह का साधन होने के कारण विवाहतुल्य ही है), पत्नी अन्तरङ्ग मित्र है (अर्थात् इन सभी से हर समय नहीं, अवसरविशेष पर ही सुख मिलता है) पुत्री दीनता का करण होती है, किन्तु पुत्र वह प्रकाश होता है जिससे पिता परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ ५ ॥

पुत्रहीन के लिए संसार नहीं है (अर्थात् पुत्रहीन इस संसार में सुख पा ही नहीं सकता), इसे पशु भी समझते हैं। इस पुत्रप्राप्ति से होने वाले सुख रूपी मार्ग का सेवन बड़े-बड़े कीर्तिमान लोगों ने भी किया है। जिस पुत्रप्राप्ति के सुख मार्ग को शोकरहित हो कर पुत्रों वाले लोग पार करते हैं, (पुत्र वाले पिता को जो सुख मिलता है) उसे पशु-पक्षी भी जानते हैं ॥ ३ ॥

अथैनमुवाच—वरुणं राजानमुपधाव, पुत्रो मे जायताम् ,तेन त्वा यजा इति।' तथेति। स वरुणं राजानमुपसार, पुत्रो मे जायताम्। तेन त्वा यजा इति। तथेति। तस्य पुत्रो जज्ञे, रोहितो नाम।

तं होवाचाजनिवै ते पुत्रो यजस्व माममनेनेति। स च होवाच—' यदा वै पशुः निर्दशो भवति अथ स मेध्यो भवति। निर्दशो नु अस्तु। अथ। त्वा यजा इति।' तथेति।

स ह निर्दश आस। तं होवाच' —'निर्दशोऽन्वभूत्। यजस्व मा अनेनेति।' स होवाच—' यदा वै पशोर्दन्ता जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति। दन्ता न्वस्य जायन्तामथ त्वा यजा इति।' तथेति।

तस्य ह दन्ता जज्ञिरे। तं होवाच —' अज्ञत वाऽस्य दन्ताः। यजस्व मा अनेनेति।' स होवाच—' यदा वै पशोर्दन्ताः पद्यन्ते अथ स मेध्यो भवति। दन्ता न्वस्य पद्यन्तामथ त्वा यजा इति।' तथेति।

इसके बाद नारद ने उनसे (हरिश्चन्द्र से) कहा—हे राजन्! वरुण की प्रार्थना करो कि मेरे लड़का पैदा हो। उससे मैं आपके लिए यज्ञ करूँगा। अच्छा, ऐसा ही करूँगा। इसके पश्चात् हरिश्चन्द्र ने राजा वरुण की प्रार्थना की कि मेरे लड़का पैदा हो। उससे मैं तुम्हारे लिए यज्ञ करूँगा (वरुण ने कहा) ऐसा ही हो (जिससे) राजा हरिश्चन्द्र को रोहित नाम का लड़का पैदा हुआ।

वरुण ने उससे (हरिश्चन्द्र से) कहा—तुम्हें पुत्र हो गया, अब उससे मेरा यज्ञ करो। उसने कहा—जब पशु दश दिन का हो जाता है तब वह पपित्र (यज्ञ के योग्य) होता है। जब वह दश दिन का हो जायगा तब इससे यज्ञ करूँगा। वरुण ने कहा—ऐसा ही करो।

वह दश दिन का हो गया (तब) वरुण ने उससे (हरिश्चन्द्र से) कहा—यह दश दिन का हो गया। इससे मेरा यज्ञ करो। उसने (हरिश्चन्द्र ने) कहा—जब पशु के दाँत निकल आते हैं तब यह यज्ञ के योग्य होता है। जब इसके दाँत आ जायेंगे तो तुम्हारा यज्ञ करूँगा।

उसे दाँत निकल आए। तब उसने (बरुण ने) कहा—इनके दाँत पैदा हो गए। इससे मेरा यज्ञ करो। उसने (हरिश्चन्द्र ने) कहा—जब पशु के दूध के दाँत गिर जाते हैं तब वह यज्ञ के योग्य होता है। जब इसके दाँत गिर जायेंगे तब तुम्हारा यज्ञ करूँगा। वरुण ने कहा—ऐसा ही करो।

तस्य ह दन्ताः पेदिरे। तं होवाच—'अपत्स्यन्त वा अस्य दन्ताः। यजस्व मा अनेनेति।' स होवाच—'यदा वै पशोर्दन्ता पुनर्जायन्ते, अथ स मेध्यो भवति। दन्ता न्वस्य पुनर्जायन्तामथ त्वा यजा इति।' तथेति।

तस्य ह दन्ताः पुनर्जज्ञिरे। तं होवाच—'अज्ञत वाऽस्य पुनर्दन्ताः। यजस्व मा अनेनेति।' स होवाच—'यदा वै क्षत्रियः सान्नाहुको भवति, अथ स मेध्यो भवति। सन्नाहं तु प्राप्नोतु अथ त्वा यजा इति।' तथेति।

स ह सन्नाहं प्रापत्तं होवाच—'सन्नाहं तु प्राप्नोत्, यजस्व मा अनेनेति।' स तथेत्युक्त्वा पुत्रमामन्त्रयामास। ततायं वै मह्य त्वामददात्। हन्त त्वया ह मित्रं यजा इति। स ह नेत्युक्त्वा धनुरादायारण्यमुपतस्थौ। संवत्सरमरण्ये चचार।

अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह। तस्य होदरं जज्ञे। तदु हि रोहितः शुश्राव। सोऽरण्याद् ग्रामयेयाय। तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

उसके दाँत टूट गए। वरुण ने उससे कहा इसके दाँत गिर गए। इससे मेरा यज्ञ करो। उसने (हरिश्चन्द्र ने) कहा—जब पशु को फिर से दाँत निकल आते हैं तब वह यज्ञ के योग्य होता है। जब इसके फिर दाँत निकल आयेंगे तो मैं इससे तुम्हारा यज्ञ करूँगा। वरुण ने कहा—ऐसा ही करो।

उसको फिर दाँत निकल आए। वरुण ने हरिश्चन्द्र से कहा—इसे फिर दाँत निकल आए। इससे मेरा यज्ञ करो। हरिश्चन्द्र ने कहा—जब क्षत्रिय शस्त्रधारी हो जाता है तब वह यज्ञ के योग्य होता है। जब वह शस्त्रधारी हो जायगा तब तुम्हारा यज्ञ करूँगा। वरुण ने कहा—ऐसा ही करो।

वह शस्त्रधारी बन गया। वरुण ने हरिश्चन्द्र से कहा--अब यह शस्त्रधारी बन गया है। इससे मेरा यज्ञ करो। हरिश्चन्द्र ने 'ऐसा ही करूंगा' ऐसा कह कर पुत्र को बुलाया। हरिश्चन्द्र ने कहा—पुत्र! वरुण ने तुम्हें मुझे दिया है। मैं तुमसे इनका यज्ञ करूंगा। रोहित पिता की बात न मान कर धनुष लेकर जंगल में चला गया। वह एक साल तक जंगल में घूमता रहा।

इक्ष्वाकुवंशीय राजा हरिश्चन्द्र को वरुण ने (रोग रूप से) पकड़ लिया। उसे जलोदर हो गया। रोहित ने इसे (राजा के रोग को) सुना। वह जंगल से गाँव की ओर लौट पड़ा। (मार्ग में) इन्द्र ने पुरुष का रूप धारण करके उससे कहा—

'नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुत, पापो नृषद्वर जन इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति। द्वितीयं संवत्सरमरण्ये चचार सः। तृतीयं संवत्सरमरण्ये चचार। चतुर्थं संवत्सरमरण्ये चचार पञ्चमं संवत्सरमरण्ये चचार। षष्ठं संवत्सरमरण्ये चचार। सोऽजीगर्तं सौयवसिमृषिमशनया परीतमरण्य उपेयाय। तस्य ह त्रयः पुत्राः आसुः। शुनःपुच्छः, शुनःशेपः, शुनो लांगूल इति। तं होवाच—'ऋषेऽहं ते शतं ददामि। अहमेषामेकेनात्मानं निष्क्रीणा इति।' स ज्येष्ठं पुत्रं निगृह्णान उवाच, न त्वमुमिति, नो एव इममिति, कनिष्ठं माता तौ ह मध्यमे सम्पादयाञ्चक्रतुः, शुनःशेपे। तस्य ह शतं दत्त्वा तमादाय सः अरण्यात् ग्राममेयाय।

स पितरमेत्योवाच, तात, हन्त, अहमनेन आत्मानं निष्क्रीणा इति। स वरुणं राजानमुपससार, अनेन त्वा यजा इति। तथेति। भूयान् वै ब्राह्मणः क्षत्रियात् इति वरुण उवाच। तस्मै एतं राजसूयं यज्ञ-क्रतुं प्रोवाच तमेतम् अभिषेचनीये पुरुषं पशुमालेभे।

तस्य विश्वामित्रो होता आसीत्। जमदग्निः अध्वर्युः। वशिष्ठो

हे रोहित ! परिश्रम न करने वाले पुरुष को सम्पत्ति नहीं मिलती है—ऐसा मैंने सुना है। श्रेष्ठ पुरुष भी अपने परिवार वालों में ही सर्वदा रहने से तुच्छ हो जाता है। भ्रमण करने वाले का मित्र इन्द्र बनता है अतः तुम-भ्रमण करो। वह दूसरे वर्ष भी जंगल में घूमता रहा, तीसरे वर्ष भी जंगल में घूमता रहा, चौथे वर्ष भी जंगल में घूमता रहा, पाँचवें वर्ष भी जंगल में घूमता रहा, छठे वर्ष भी जंगल में घूमता रहा। इसके पश्चात् भूख से दुःखी सुवयस् ऋषि के पुत्र अजीगर्त के पास वह पहुंचा। उसके शुनःपुच्छ, शुनःशेप और शुनोलांगूल नाम के तीन पुत्र थे। रोहित ने अजीगर्त से कहा—हे ऋषि ! मैं तुम्हें सौ गाएँ दूँगा। मैं इनमें से एक लड़के (अपने को वरुण से मुक्त करने के लिए) लेना चाहता हूं। उसने जेठे लड़के को पकड़ कर कहा—मैं इसे नहीं दे सकता। छोटे को माता ने पकड़ लिया। अन्त में माता पिता दोनों ने बिचले लड़के शुनःशेप को देना स्वीकार कर लिया। रोहित अजीगर्त को सौ गाएँ देकर शुनःशेप को लेकर जंगल से गाँव को लौट पड़ा।

रोहित ने पिता के पास पहुंच कर कहा—तात ! हर्ष की बात है कि मैं इसके

ब्रह्मा । अयास्यः उद्गाता । तस्मै उपाकृताय नियोक्तारं न विविदुः स ह उवाच अजीगर्तः सौयवसिः—'मह्यमपरं शतं दत्त, अहमनेन नियोक्ष्यामीति' तस्मै अपरं शतं ददुः । सः असिं निःशान एयाय ।

अथ ह शुनःशेपः ईक्षाञ्चक्रे । अमानुषमिव वै मा विशसिष्यन्ति हन्त, अहं देवता उपधावामीति ।

तस्य ह ऋचि ऋचि उक्तायां विपाशो मुमुचे । कनीय ऐक्ष्वाकस्य उदरं भवति । उत्तमस्यामेव ऋचि उक्तायां विपाशो मुमुचे, अगद ऐक्ष्वाक आस ।

अश्वमेधशब्दार्थः

(इयं कंडिका शतपथब्राह्मणात् गृहीता । ऐतरेयब्राह्मणादर्वाचीनत्वमस्य ब्राह्मणस्य प्रतीयते । अश्वमेधशब्दस्य कौ हि वास्तविकोऽर्थः किञ्च तात्पर्यमिति स्पष्टीकृतमत्र ।]

अपि ह वा एतर्हि देवेभ्योऽश्वमेधमालभन्ते, तदाहुः प्राकृतः अश्वमेध-

---

द्वारा (शुनःशेप द्वारा) अपने को वरुण से मुक्त कर लूँगा । हरिश्चन्द्र ने वरुण के पास जाकर कहा—मैं इससे (शुनःशेप से) आप का यज्ञ करूँगा । वरुण ने कहा—ऐसा ही करो । इस क्षत्रिय से (रोहित से) यह ब्राह्मण (शुनःशेप) मुझे अधिक प्रिय है । वरुण ने इससे राजसूय यज्ञ करने को कहा । हरिश्चन्द्र ने उस पुरुष को (शुनःशेप को) यज्ञ में पशु रूप से हवन करने का निश्चय किया ।

उसके यज्ञ में विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वशिष्ठ ब्रह्मा और अयास्य उद्गाता हुए । उपकरण संस्कार से शुद्ध उस शुनःशेप के लिए कोई नियोक्ता (यज्ञस्तम्भ में बाँधने वाला) नहीं मिला । तब सुयवस् के पुत्र अधीगर्त ने कहा—मुझे और सौ गाएँ दो तो मैं ही इसे स्तम्भ में बाँध दूँगा । उसे सौ गाएँ दी गई । वह तलवार को तेज करता हुआ उसके पास पहुँचा ।

इसके पश्चात् शुनःशेप ने विचार किया । ये सब मुझे पशु की तरह मार डालेंगे । अतः इससे छुटकारा पाने के लिए मैं देवताओं की शरण में चलूँ ।

उसके एक-एक मन्त्र के उच्चारण पर उसके बन्धन टूटने लगे । इच्छाकुवंशी राजा हरिश्चन्द्र का जलोदर कम हो गया । अंतिम मन्त्र पढ़ने पर वह बंधन से बिल्कुल मुक्त हो गया और राजा हरिश्चन्द्र भली-भाँति नीरोग हो गए ।

अश्वमेधशब्दार्थ

इस (दर्शपूर्णमास के) समय (इसके याज्ञिक) देवताओं के लिए अश्वा-

इति । इतरभित् नूनं सा तद्धा एष एव अश्वमेधः यच्चन्द्रमाः । तदाहुः पदे पदे अश्वस्य मेध्यस्य आहुतिं जुह्वतीति । स यत् सायं प्रातः अग्निहोत्रं जुहोति, द्वे सायमाहुती जुहोति, द्वे प्रातः, ताः चतस्रः आहुतयः, चतुष्पाद् वा अश्वः, तस्य पदे पदे एव आहुतिः हुता भवति । तद् आहुः विवृत्तो अश्वस्य इष्टिं निर्वपति इति, एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः स यत्र एष एताः रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चात् ददृशे तद् इमं लोकम् आगच्छति, स अस्मिन् लोके निवर्तते । स यदमावास्येन यजते, विवृत्त एव अस्य एतदिष्टिं निर्वपति, अथ यत् पौर्णमासेन यजते अश्वमेधमेवैतत् आलभते, तमालभ्य देवेभ्यः प्रयच्छति । संवत्सरे वा इतरमश्वमेधमालभन्ते, एष वै मासः परिप्लवमानः संवत्सरं करोति ।

तद् अस्य संत्वश्रे संवत्सरः एव अश्वमेधः आलब्धो भवति । तं वा एतं मासि-मासि एव अश्वमेधमालभन्ते । स यो ह एवं विद्वान् अग्नि-

---

त्मक मेध का आलम्भन करते हैं । इसलिए इसके विषय में कहा है कि यही (दर्शपूर्णमास याग) प्रकृतभूत अश्वमेध है । अतः इसका (दर्शपूर्णमास काल के विभाग का हेतु) चन्द्रमा ही अश्वमेध है । अश्वमेध के प्रत्येक पैर पर आहुति दी जाती है । इस समय भी सायं प्रातःकाल अग्निहोत्र किया जाता है, दो आहुतियां सायंकाल दी जाती हैं, दो आहुतियां प्रातःकाल दी जाती हैं । ये चारों आहुतियाँ मानो चार पैर वाला अश्व हैं । इसीलिए इसके एक-एक पद पर आहुति होती है । यह भी कहा जाता है कि अश्व के स्थानान्तरित हो जाने पर (उसकी पुनः प्राप्ति के लिए) कुछ इष्ट क्रियायें की जाती हैं । तो वह देवताओं का अन्न सोम राजा जो चन्द्रमा है वह जिस दिन रात्रि को न पूर्वमें दिखाई पड़ता है न पश्चिम में, उस समय वह इस लोक में आता है । इस प्रकार उसका इस लोक में स्थानान्तर हो जाता है । अतः जो अमावास्य द्वारा यज्ञ किया जाता है वह इसकी इष्टि होती है (अर्थात् इसे पुनः प्राप्त करने की क्रिया होती है) और जो पौर्णमास द्वारा किया जाता है उससे अश्वरूपात्मक पूर्ण मेघ की प्राप्ति होती है। उसे प्राप्त करके देवताओं को प्रदान करते हैं । इस अश्वरूपात्मक मेध की प्राप्ति एक संवत्सर में होती है तो यहाँ (चन्द्र पक्ष में) यह मास ही क्रमानुसार संवत्सर बन जाता है।

इसलिए प्रत्येक संवत्सर में अश्वमेध प्राप्त होता है । यहां (अर्थात् चन्द्रपक्ष में)

होत्रं जुहोति, दर्शपूर्णमासाभ्यां च यजते मासि-मासि ह एव अस्य अश्व-मेधेन इष्टं भवति। एतद् ह अस्य अग्निहोत्रं च दर्शपूर्णमासौ च अश्वमे-धमभिसम्पद्यते।

अमृतत्वप्राप्तिः

(अयं गद्यभागः मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य-संवादरूपः बृहदारण्यकोपनिषदः उद्धृतः। अस्याः उपनिषदः प्राधान्यं प्रख्यातम्। याज्ञवल्क्यस्य पत्नी मैत्रेयी याज्ञवल्क्यं पृच्छति यत्, किं धनेन अमृतत्वप्राप्तिः संभवति न वा। याज्ञवल्क्यः तां सम्यक् उपदिशति।)

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः। मैत्रेयी च कात्यायनी च। तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव, स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायनी। अथ ह याज्ञवल्क्यः अन्यत् वृत्तमुपाकरिष्यन्–'मैत्रेयीति' ह उवाच याज्ञवल्क्यः– 'प्रव्रजिष्यन् वा अरे अहमस्मात् स्थानादस्मि। हन्त ते अनया कात्या-यन्या अन्तं करवाणि इति।' सा ह उवाच मैत्रेयी—'यन्नु मे इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्, स्यां नु अहं तेन अमृता आहो नेति?' 'नेति'—ह उवाच याज्ञवल्क्यः—'यथैव उपकरणवतां जीवितं तथैव ते

महीने-महीने अश्वरूपात्मक मेघ प्राप्त होता है। अतः दर्शपूर्णमास द्वारा जो अग्निहोत्र किया जाता है और महीने-महीने जो यज्ञ होता है उसे अश्वमेघ ही समझना चाहिए। इस प्रकार दर्शपूर्णमास का अग्निहोत्र ही अश्वमेघ है, ऐसा सिद्ध हो जाता है।

अमृतत्वप्राप्ति

याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियां थीं। एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। उन दोनों में मैत्रेयी ब्रह्मज्ञान वाली थी किन्तु कात्यायनी साधारण स्त्री बुद्धिवाली थी। एक बार याज्ञवल्क्य ने अन्य आश्रम में जाने की इच्छा करते हुए मैत्रेयी से कहा—मैं इस स्थान से (गृहस्थाश्रम से) जाना चाहता हूं। मैं अब तुम्हारे और कात्यायनी दोनों के साथ अपने संबंध का अंत कर रहा हूं। मैत्रेयी ने उससे कहा—भगवान्! यदि धनपूर्ण यह सभी पृथ्वी मेरी हो जाय तो मैं उससे अमर हो सकती हूँ अथवा नहीं? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं। जैसे धन धान्यपूर्ण लोगों का

जीवितं स्यात्, अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति वित्तेनेति।' सा ह उवाच मैत्रेयी—'येन अहं न अमृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्? यदेव भगवान् वेद, तदेव मे ब्रूहि इति।' स ह उवाच याज्ञवल्क्यः—'प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृच्छत्। हन्त तर्हि भवति एतद् व्याख्यास्यामि, व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व इति।'

स ह उवाच—'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। ना वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रियाः भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रियाः भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रियाः भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय पशवः प्रियाः भवन्ति। न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति। न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रियाः भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रियाः भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रियाः भवन्ति, आत्मनस्तु

जीवन होता है उसी प्रकार का तुम्हारा भी जीवन होगा। धन से अमरता मिलने की कोई आशा नहीं है। मैत्रेयी ने कहा—जिससे (जिस धन से) मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर क्या करूँगी। आप जो जानते हों (अर्थात् जिससे अमरता मिलती हो) उसे मुझे बताइए। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम मेरी बहुत प्रिया हो और प्रिय बात पूछ भी रही हो। मैं तुम्हारे लिए यह व्याख्यान कर रहा हूं। परन्तु व्याख्यान करते हुए मेरी बातों पर चिन्तन करो।

याज्ञवल्क्य ने कहा—मैत्रेयी! पति की कामना के लिए (स्त्री को) पति प्रिय नहीं होता, बल्कि अपनी आत्मा की कामना के लिए पति प्रिय होता है। स्त्री की कामना के लिए (पति को) स्त्री प्रिय नहीं होती, बल्कि अपनी आत्मा की कामना के लिए स्त्री प्रिय होती है। पुत्रों की कामना के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते, बल्कि अपनी आत्मा की कामना के लिए पुत्र प्रिय होते हैं। धन की कामना के लिए धन नहीं प्रिय होता, बल्कि अपनी आत्मा की कामना के लिए धन प्रिय होता है। पशुओं की कामना के लिए पशु प्रिय नहीं होते, बल्कि अपनी आत्मा की

कामाय देवाः प्रियाः भवन्ति। न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रियाः भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः, मैत्रेयि, आत्मनि खलु अरे दृष्टे, श्रुते, मते, विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।'

नाम्नामाख्यातजत्वम्

(यास्कः)

(ई० पू०—७००)

[यास्कस्य निरुक्तं गद्येनैव निर्मितमस्ति। इदमपि प्राचीनतमस्य गद्यस्योदाहरणरूपम्। अतः ततोऽपि कियानंश उद्ध्रियते। अत्र सर्वाणि नामानि आख्यातजानि, यौगिकानि, धातुप्रत्ययसंयोगेन निष्पन्नानीति निश्चीयते।]

सर्वाणि नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।

कामना के लिए पशु प्रिय होते हैं। ब्राह्मण की कामना के लिए ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, बल्कि अपनी आत्मा की कामना के लिए ब्राह्मण प्रिय होता है। क्षत्रिय की कामना के लिए क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, बल्कि अपनी आत्मा की कामना के लिए क्षत्रिय प्रिय होता है। लोक की कामना के लिए लोक प्रिय नहीं होते, बल्कि अपनी आत्मा की कामना के लिए लोक प्रिय होते हैं। देवताओं की कामना के लिए देवता नहीं प्रिय होते, बल्कि आत्मकामना के लिए देवता प्रिय होते हैं। वेदों की कामना के लिए वेद नहीं प्रिय होते, बल्कि आत्मकामना के लिए वेद प्रिय होते हैं। प्राणियों की कामना के लिए प्राणी प्रिय नहीं होते, बल्कि आत्मकामना के लिए प्राणी प्रिय होते हैं। सबकी कामना के लिए सब प्रिय नहीं होते, बल्कि आत्मकामना के लिए सब प्रिय होते हैं।

इसलिए हे मैत्रेयी! यह आत्मा ही देखने योग्य, सुनने योग्य, मानने योग्य और चिंतन करने योग्य है। इस आत्मा के देख लेने पर, सुन लेने पर, मान लेने पर और जान लेने पर यह सभी मालूम हो जाता है।

संज्ञा का धातु से उत्पन्न होना

सभी नाम (संज्ञाएँ) आख्यात (धातु) से उत्पन्न हुए हैं ऐसा शाकटायन

न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। तत् यत्र स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि। यथा—गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्तीति। अथ चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथा आचक्षीरन्। यः कश्च अध्वानमश्नुवीत, अश्वः स वचनीयः स्यात्। यत् किंचित् तृन्द्यात्, तृणं तत्। अथापि चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः यावद्भिः भावैः सम्प्रयुज्यते तावद्भ्यः नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्। तत्रैवं स्थूणा, दरशया, वा सञ्जनी च स्यात्। अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारः यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः तथैतानि आचक्षीरन् पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन् अष्टा इति अश्वं, तर्दनमिति तृणम्।

अथापि निष्पन्ने अभिव्याहारे अभिविचारयन्ति प्रथनात् पृथिवी इत्याहुः। कः एनाम् अप्रथयिष्यत्, किम् आधारश्चेति। अथ अनन्विते

भी कहते हैं और निरुक्तकारों में भी कुछ लोग ऐसा मानते हैं। किन्तु गार्ग्य और वैयाकरणों में से कुछ लोग कहते हैं कि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न नहीं हैं। इसलिए जहाँ स्वर (उदात्त आदि) और संस्कार (प्रकृति और प्रत्यय) ठीक-ठीक बन सकते हों और प्रादेशिक गुणों से युक्त हों वहाँ उन्हें ही आख्यात से उत्पन्न समझना चाहिए न कि सभी को। जैसे गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती आदि। अगर सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होने वाले हों तो जो कोई भी उस कर्म को करेगा उस भी प्राणी को उसी नाम से कहा जायगा। जो कोई मार्ग को व्याप्त करेगा वह अश्व कहा जायगा। जो कोई भी तोड़ा जायगा वह तृण कहा जायगा। इसके अतिरिक्त यदि सभी नामों को आख्यात से उत्पन्न मान लिया जायगा तो जिस वस्तु का सम्बन्ध जितनी क्रियाओं से होगा उसे उतने नामों का लाभ होगा (अर्थात् उन क्रियाओं के अनुसार उसके उतने नाम होंगे)। ऐसा होने पर स्थूणा (खंभ) को 'दरशया' (गड्ढे में होने वाला) अथवा 'सञ्जनी' (जिस पर छत टिका हो) नाम का भी लाभ होगा अर्थात् उसे दरशया और सञ्जनी भी कहा जायगा। इसके अतिरिक्ति इनका, क्रिया से पड़े नाम सम्बन्धी जो संस्कार हैं, जैसे वह ठीक—ठीक हों, वैसे, और जैसे स्फुट अर्थ वाले हों वैसे इन्हे कहें तो पुरुष को पुरिशय' 'अश्व को अष्टा' और तृण को 'तर्दन' भी कहा जायगा।

इसके अतिरिक्त सिद्ध नामों के व्यवहार पर विचार करते हैं तो प्रथम (फैलाने की क्रिया) से पृथ्वी कही जाती है। भला (सोचें तो सही) किसने इसको

अर्थे आप्रदेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्धान् सञ्चस्कार शाकटायनः, एतैः कारितञ्च यकारादिञ्च, अन्तकरणमस्तेः शुद्धञ्च सकारादिञ्च। अथापि सत्त्वपूर्वो भाव इत्याहुः, अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते इति तदेतन्नोपपद्यते।

गुरुभक्तिः

(महाभारतात्)

(ई० पू०—५००)

[अयं गद्यांश, महाभारतस्य आदिपर्वतः उद्धृतः। अत्र आरुणे गुरुभक्तेः प्रसिद्धा कथा वर्णिता अस्ति। गुरुः शिष्यस्य भक्ति-परीक्षां करोति स्म। तत्र त्रयाणां शिष्याणां भक्तेः परीक्षायाः कथा अधस्तात् विलिख्यते]

आरुणिः

एतस्मिन्नन्तरे कश्चिद् ऋषिः धौम्यो नाम आयोदः। तस्य शिष्याः त्रयः बभूवुः—उपमन्युः, आरुणिः, वेदश्चेति। स एकं शिष्यमारुणिं पाञ्चाल्यं प्रेषयामास। गच्छ, केदार-खण्डं बधान इति। उपाध्यायेन संदिष्टः आरुणिः पाञ्चाल्यः तत्र गत्वा तत् केदार-खण्डं बद्धुं नाशक्नोत्। स-

---

फैलाया और फैलानें वाले का आधार क्या था? (अर्थात् कहाँ खड़े होकर उसने फैलाया)। इसके अतिरिक्त जहाँ अर्थ अनुगत नहीं और धातु सम्बन्धी बनावट नहीं वहीं शाकटायन ने पदों से दूसरे पदों के आधे भाग बना डाले हैं। जैसे इ का णिजन्त रूप यकारादि भाग अन्त में किया और अस का शुद्ध सकारादि। इसके अतिरिक्त क्रिया द्रव्य के साथ होती है। यदि यह कहते हैं तो पीछे होने वाली क्रिया से पहले-पहले होने वाले को बताना सिद्ध नहीं होता, अतः सभी नाम आख्यातज हैं यह सिद्ध नहीं होता।

गुरुभक्ति—१० आरुणि

धौम्य आयोद नाम के कोई ऋषि थे। उनके उपमन्यु, आरुणि और वेद नाम के तीन शिष्य हुए। उन्होंने एक शिष्य आरुणि पांचाल्य को खेत की मेंड़ बाँधने के लिए भेजा। आचार्य की आज्ञा से आरुणि पञ्चाल्य वहाँ जाकर उस मेड़ के बाँधने में समर्थ न हो सका। बड़ी कठिनाई के बाद उसे एक उपाय सूझा।

क्लिश्यमानः अपश्यद् उपायम्। भवतु एवं करिष्यामीति। स तत्र संविवेश केदारखण्डे। शयाने तस्मिन् तदुदकं तस्थौ। ततः कदाचिद् उपाध्यायः आयोदो धौम्यः शिष्यान् अपृच्छत्। क्व आरुणिः पाञ्चाल्यो गत इति। ते प्रत्यूचुः। भगवतैव प्रेषितः, गच्छ, केदार—खण्डं बधान इति। एवमुक्तः तान् शिष्यान् प्रत्युवाच। तस्मात् सर्वे तत्र गच्छामो यत्र स इति। स तत्र गत्वा तस्य आह्वानाय शब्दं चकार। भो आरुणे, पाञ्चाल्य, क्वासि वत्स, एहीति। स तत् श्रुत्वा आरुणिः उपाध्यायवाक्यं तस्मात् केदार-खण्डात् सहसा उत्थाय तमुपाध्यायमुपतस्थे। प्रोवाच चैनम्—'अयमस्मि अत्र केदार-खण्डे निस्सरमाणमुदकमवारणीयं संरोद्धुं संदिष्टः, भगवत् शब्दं श्रुत्वैव सहसा विदार्य केदार-खण्डं भवन्तमुपस्थितः। तदभिवादये भगवन्तम्। आज्ञापयतु भवान् किं करवाणीति।' तमुपाध्यायोऽब्रवीत्—'यस्माद् भवान् केदार-खण्डमवदार्य उत्थितः तस्मात् भवान् उद्दालक एव नाम्ना भविष्यतीति।' स उपाध्यायेन अनुगृहीतः—'यस्मात् त्वया मद्वचोऽनुष्ठितं तस्मात् श्रेयोऽवाप्स्यसीति। सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति, सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति। स एवमुक्तः उपाध्यायेन इष्टं देशं जगाम।

अच्छा, ऐसा ही करूँगा, ऐसा सोचकर वह मेंड़ के पास सो गया। उसके सोने पर पानी रुक गया। कुछ समय पश्चात् आचार्य धौम्य आयोद ने शिष्यों से पूछा—आरुणि पाञ्चाल्य कहाँ गया। उन्होंने उत्तर दिया—आप ही ने तो भेजा है कि जाओ, खेत की मेंड़ बांधो। ऐसा कहने पर उन्होंने उन शिष्यों से कहा—हम सब भी वहीं चलें जहाँ वह गया है। उन्होंने वहाँ जाकर उसे बुलाने के लिए आवाज लगाई—हे आरुणे पाञ्चाल्य, पुत्र! कहाँ हो? यहाँ आओ। आरुणि आचार्य की यह वाणी सुनकर तत्काल उस मेंड़ से उठ पड़ा, आचार्य के पास पहुंचा और उनसे बोला—इस खेत की मेंड़ में बहते हुए जल को रोकने के लिए आपने आज्ञा दी थी। मैं वहीं था। आपके शब्द को सुनते ही तत्काल मेंड़ को तोड़ कर आपके पास आया हूँ। आपको नमस्कार करता हूँ। आज्ञा दीजिए क्या करूँ। आचार्य ने ऊससे कहा—तुम खेत की मेंड़ को फाड़कर उठे हो इस लिए अबसे तुम्हारा नाम उद्दालक होगा। तुम पर आचार्य की कृपा हुई है। तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया है—इसलिए तुम्हारा कल्याण होगा। तुम्हें सारे वेदों

उपमन्युः

अथ अपरः शिष्यः तस्यैव आयोदस्य धौम्यस्य उपमन्युः नाम। तमुपाध्यायः प्रेषयामास। 'वत्स, उपमन्यो, गाः रक्षस्वेति।' स उपाध्यायवचनादरक्षद् गाः। स च अहनि गाः रक्षित्वा दिवसक्षये अभ्यागम्य उपाध्यायस्य अग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे। तमुपाध्यायः पीवानमपश्यत्। उवाच चैनम्—'वत्स, उपमन्यो! केन वृत्तिं कल्पयसि? पीवाऽसि दृढमिति।' स उपाध्यायं प्रत्युवाच—,भैक्ष्येण वृत्तिं कल्पयामीति।' तमुपाध्यायः प्रत्युवाच—'मामनिवेद्य भैक्ष्यं नोपभोक्तव्यमिति।'

स तथेत्युक्त्वा पुनः अरक्षद् गाः। रक्षित्वा चागम्य तथैव उपाध्यायस्य अग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे। तमुपाध्यायः तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा उवाच—'वत्स, उपमन्यो! सर्वं ते अशेषतः भैक्ष्यं गृह्णामि। केन इदानीं वृत्तिं कल्पयसीति?' स एवमुक्तः उपाध्यायेन प्रत्युवाच—'भगवते निवेद्य पूर्वम्, अपरं चरामि। तेन वृत्तिं कल्पयामीति।' तमुपा-

---

और सभी धर्मशास्त्रों का परिज्ञान हो जायगा। आचार्य के ऐसा कहने पर वह अपने इष्ट स्थान को चला गया।

---

२. उपमन्यु

उस धौम्य आयोद का दूसरा शिष्य उपमन्यु था। आचार्य ने उसे भेजा कि पुत्र उपमन्यु, गायों की रक्षा करो। वह आचार्य की आज्ञा से गायों की रखवाली करने लगा। वह दिन में गायों की रखवाली करके संध्या समय लौटकर आचार्य के आगे खड़े होकर नमस्कार करता था। आचार्य ने उसे मोटा तगड़ा देखा और उससे पूछा—पुत्र उपमन्यु, तुम भोजन क्या करते हो? बहुत मोटे-तगड़े हो गए हो? उसने आचार्य से कहा—मैं भीख मांगकर भोजन करता हूँ। आचार्य ने उससे कहा—बिना मुझे समर्पित किए भीख का अन्न तुम्हें नहीं खाना चाहिए।

ऐसा ही करूँगा—ऐसा कह कर वह फिर गायों की रखवाली करने लगा। रखवाली करके लौट कर फिर उसने उसी प्रकार उपाध्याय के आगे खड़े होकर नमस्कार किया। आचार्य ने उसे फिर भी मोटा देख कर कहा—पुत्र! मैं तुम्हारे सभी भीख के अन्न को ले लेता हूं। फिर अब तुम क्या खाते हो? आचार्य के ऐसा कहने पर उसने कहा—पहले की भीख आप को दे देता हूँ, फिर दूसरी माँग

ध्यायः प्रत्युवाच—'नैषा न्याय्या गुरुवृत्तिः। अन्येषामपि वृत्त्युपरोधं करोष्येवं वर्त्तमानः, लुब्धोऽसीति।'

स तथेत्युक्त्वा गाः अरक्षत्। रक्षित्वा च पुनः उपाध्यायगृहमागम्य उपाध्यायस्य अग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे। तमुपाध्यायः तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच—'अहं ते सर्वं भैक्ष्यं गृह्णामि, न च अन्यत् चरसि, पीवाऽसि केन वृत्तिं कल्पयसीति ?' स उपाध्यायं प्रत्युवाच—'भोः एतासां गवां पयसा वृत्तिं कल्पयामीति।' तमुपाध्यायः प्रत्युवाच—'नैतन्न्याय्यं पय उपभोक्तुं भवतो मयाऽननुज्ञातमिति।'

स तथेति प्रतिज्ञाय गाः रक्षित्वा पुनरुपाध्यायगृहान् उपेत्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे। तमुपाध्यायः पीवानमेव अपश्यत्। उवाच चैनम्—'भैक्ष्यं नाश्नासि, न चान्यत् चरसि। पयो न पिबसि। पीवाऽसि। केन वृत्तिं कल्पयसीति ?' स एवमुक्तः उपाध्यायं प्रत्युवाच—'भोः फेनं पिबामि। यमिमे वत्साः मातॄणां स्तनं पिबन्तः उद्गिरन्तीति।'

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच—'एते त्वदनुकम्पया गुणवन्तो वत्साः प्रभूत-

---

लेता हूं और उसी से जीविका चलाता हूँ। आचार्य ने उससे कहा—यह न्यायोचित श्रेष्ठवृत्ति नहीं है। इस प्रकार रहते हुए तुम दूसरों की जीविका रोकते हो, बड़े लालची हो।

मैं ऐसा ही करूँगा—ऐसा कह कर गायों की रखवाली करने लगा। रखवाली करके फिर आचार्य के घर आकर उनके सम्मुख खड़े होकर उसने नमस्कार किया। इस पर भी आचार्य ने उसे मोटा ही देखकर कहा—मैं तुम्हारी सारी भीख ले लेता हूं, तुम दूसरी भी नहीं माँगते, फिर भी मोटे हो। कैसे अपनी जीविका चलाते हो ! उसने आचार्य से कहा—मैं इन गायों के दूध से अपनी जीविका चलाता हूं। आचार्य ने उससे कहा—मुझसे बिना आज्ञा लिए तुम्हारा दूध पीना उचित नहीं है।

ऐसा ही करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा करके उसने फिर गायों को चराकर आचार्य के घर आकर गुरु के सामने जाकर नमस्कार किया। आचार्य ने उसे मोटा ही देखा और कहा—भीख नहीं खाते हो, दूसरी भीख नहीं माँगते हो, दूध भी नहीं पीते हो; फिर भी मोटे हो। अब जीविका कैसे चलाते हो ? उसने ऐसा कहने पर उपाध्याय से कहा—मैं फेन पीता हूँ जिसे ये बछड़े अपनी माँ का थन पीते हुए गिरा देते हैं।

आचार्य ने उससे कहा—ये गुणी बछड़े तुम्हारे ऊपर दया करके अधिक फेन

तरं फेनमुद्गिरन्ति । तदेवमपि वत्सानां वृत्त्युपरोधं करोषि एवं वर्त्तमानः । फेनमपि भवान्न पातुमर्हतीति ।'

स तथेति प्रतिज्ञाय निराहारः ताः गाः अरक्षत् । तथा प्रतिषिद्धो भैक्ष्यं नाश्नाति न चान्यच्चरति । पयो न पिबति । फेनं नोपयुक्ते । स कदाचिदरण्ये क्षुधार्तोऽर्कपत्राणि अभक्षयत् । स तैः अर्कपत्रैः क्षारकटूष्णविपाकिभिः चक्षुषि उपहतः अन्धः अभवत् । स अन्धोऽपि चङ्क्रम्यमाणः कूपे अपतत् ।

अथ तस्मिन् अनागच्छति उपाध्यायः शिष्यानवोचत्—'मया उपमन्युः सर्वतः प्रतिषिद्धः । स नियतं कुपितः । ततो नागच्छति । चिरगतश्चेति ।' स एवमुक्त्वा गत्वा अरण्यम् उपमन्योराह्वानम् चक्रे—'भो उपमन्यो ! क्वासि वत्स ! एहीति' । तदाह्वानम् उपाध्यायात् श्रुत्वा प्रत्युवाच उच्चैः—'अयमस्मि भो उपाध्याय, कूपे पतित इति' स तं प्रत्युवाच—'अर्कपत्राणि भक्षयित्वा अन्धीभूतोऽस्मि । अतः कूपे पतित इति' तमुपाध्यायः प्रत्युवाच—'अश्विनौ स्तुहि । तौ त्वां चक्षुष्मन्तं

गिरा देते होंगे । इसलिए ऐसा करके तुम इन बछड़ों की जीविका छीनते हो । तुम्हें फेन भी पीना उचित नहीं ।

ऐसा ही करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा करके वह भूखे ही गायों की रखवाली करने लगा । वह न भीख का अन्न खाता, न दूसरी भीख मांगता, न दूध पीता, न फेन ही पीता । एक बार भूख से व्याकुल होकर उसने जंगल में मदार के पत्तों को खा लिया । उन खारे, और कड़वे गर्म विपाक वाले मदार के पत्तों से उसकी आखें फूट गई और वह अंधा हो गया । अंधा होने पर भी घूमता हुआ वह कुएं में गिर पड़ा ।

इसके पश्चात् उसके घर न आने पर आचार्य ने शिष्यों से कहा—मैंने उपमन्यु को सभी चीजें खाने से रोक दिया था । वह निश्चित ही नाराज हो गया है । इसीलिए नहीं आया है । वह सर्वदा के लिए चला गया है । उन्होंने ऐसा कह कर जंगल में जाकर उपमन्यु को बुलाना प्रारंभ किया । हे उपमन्यु ! पुत्र ! कहाँ हो ? यहाँ आओ । उसने आचार्य का बुलाना सुनकर जोर से कहा—आचार्य ! मैं यहाँ कुएँ में गिरा हुआ हूँ, और उसने कहा—मैं मदार का पत्ता खाने से अंधा हो गया हूं । इसीलिए कुएँ में गिर पड़ा हूँ । आचार्य ने उससे कहा—अश्विनीकुमारों की

तरं फेनमुद्गिरन्ति। तदेवमपि वत्सानां वृत्त्युपरोधं करोषि एवं वर्त्तमानः। फेनमपि भवान्न पातुमर्हतीति।'

स तथेति प्रतिज्ञाय निराहारः ताः गाः अरक्षत्। तथा प्रतिषिद्धो भैक्ष्यं नाश्नाति न चान्यच्चरति। पयो न पिबति। फेनं नोपयुङ्क्ते। स कदाचिदरण्ये क्षुधार्तोऽर्कपत्राणि अभक्षयत्। स तैः अर्कपत्रैः क्षारकटूष्णविपाकिभिः चक्षुषि उपहतः अन्धः अभवत्। स अन्धोऽपि चङ्क्रम्यमाणः कूपे अपतत्।

अथ तस्मिन् अनागच्छति उपाध्यायः शिष्यानवोचत्—'मया उपमन्युः सर्वतः प्रतिषिद्धः। स नियतं कुपितः। ततो नागच्छति। चिरगतश्चेति।' स एवमुक्त्वा गत्वा अरण्यम् उपमन्योराह्वानम् चक्रे—'भो उपमन्यो! क्वासि वत्स! एहीति'। तदाह्वानम् उपाध्यायात् श्रुत्वा प्रत्युवाच उच्चैः—'अयमस्मि भो उपाध्याय, कूपे पतित इति' स तं प्रत्युवाच—'अर्कपत्राणि भक्षयित्वा अन्धीभूतोऽस्मि। अतः कूपे पतित इति' तमुपाध्यायः प्रत्युवाच—'अश्विनौ स्तुहि। तौ त्वां चक्षुष्मन्तं

गिरा देते होंगे। इसलिए ऐसा करके तुम इन बछड़ों की जीविका छीनते हो। तुम्हें फेन भी पीना उचित नहीं।

ऐसा ही करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा करके वह भूखे ही गायों की रखवाली करने लगा। वह न भीख का अन्न खाता, न दूसरी भीख मांगता, न दूध पीता, न फेन ही पीता। एक बार भूख से व्याकुल होकर उसने जंगल में मदार के पत्तों को खा लिया। उन खारे, और कड़वे गर्म विपाक वाले मदार के पत्तों से उसकी आखें फूट गई और वह अंधा हो गया। अंधा होने पर भी घूमता हुआ वह कुएं में गिर पड़ा।

इसके पश्चात् उसके घर न आने पर आचार्य ने शिष्यों से कहा—मैंने उपमन्यु को सभी चीजें खाने से रोक दिया था। वह निश्चित ही नाराज हो गया है। इसीलिए नहीं आया है। वह सर्वदा के लिए चला गया है। उन्होंने ऐसा कह कर जंगल में जाकर उपमन्यु को बुलाना प्रारंभ किया। हे उपमन्यु ! पुत्र ! कहाँ हो? यहाँ आओ। उसने आचार्य का बुलाना सुनकर जोर से कहा—आचार्य ! मैं यहाँ कुएँ में गिरा हुआ हूँ, और उसने कहा—मैं मदार का पत्ता खाने से अंधा हो गया हूँ। इसीलिए कुएँ में गिर पड़ा हूँ। आचार्य ने उससे कहा—अश्विनीकुमारों की

करिष्यतः देवभिषजौ इति।' स एवमुक्तः उपाध्यायेन स्तोतुं प्रचक्रमे देवौ अश्विनौ वाग्भिः ऋग्भिः।

एवं तेन अभिष्टुतौ अश्विनौ आजग्मतुः। आहतुश्च एनम्—'प्रीतौ स्वः। एष ते अपूपः। अशान एनमिति।' स एवमुक्तः प्रत्युवाच—'नानृतमूचतुः भवन्तौ। न त्वहमेतमपूपमुपयोक्तुमुत्सहे, अनिवेद्य गुरवे इति।' ततः तमश्विनौ ऊचतुः—'आवाभ्यां पुरस्ताद् भवतः उपाध्यायेनैव अभिष्टुताभ्यामपूपः प्रीताभ्यां दत्तः। उपभुक्तश्च तेन अनिवेद्य गुरवे। त्वमपि तथैव कुरुष्व यथा कृतमुपाध्यायेनेति।'

स एवमुक्तः पुनरेव प्रत्युवाच एतौ—'प्रत्यनुनये भवन्तावश्विनौ। नोत्सहे अहमनिवेद्योपाध्यायायोपयोक्तुमिति'। तमश्विनावाहतुः—'प्रीतौ स्वः तव अनया गुरुवृत्त्या। उपाध्यायस्य ते कार्ष्णायसाः दन्ताः। भवतः हिरण्मयाः भविष्यन्ति। चक्षुष्मान् च भविष्यसि। श्रेयश्चावाप्स्यसीति।' स एवमुक्तः अश्विभ्यां लब्धचक्षुः उपाध्यायसकाशमागम्य उपाध्यायमभिवाद्याचचक्षे। स चास्य प्रीतिमान् अभूत्। आह चैनम्—'यथा अश्विनौ

प्रार्थना करो। वे देवताओं के वैद्य तुम्हें नेत्रयुक्त कर देंगे। आचार्य के ऐसा कहने पर उसने ऋग्वेद की ऋचाओं से अश्विनीकुमारों की प्रार्थना करना प्रारंभ किया।

उससे इस प्रकार प्रार्थित होकर अश्विनीकुमार आ पहुंचे और उन्होंने उससे कहा—हम प्रसन्न हैं। यह तुम्हारे लिए मालपुआ है, इसे खा लो। ऐसा कहने पर उसने कहा—आप बिल्कुल ठीक कहते हैं किन्तु बिना गुरु की आज्ञा लिए मैं इस मालपूए को नहीं खा सकता। तब अश्विनीकुमारों ने उससे कहा—इसके पहले तुम्हारे उपाध्याय के द्वारा प्रार्थना करने पर हम लोगों ने प्रसन्न होकर उन्हें भी मालपुआ दिया था और उन्होंने बिना गुरु के कहे खाया था। इसलिए तुम भी वैसा ही करो जैसा तुम्हारे गुरु ने किया है।

ऐसा कहने पर उसने फिर उन दोनों से कहा—आप अश्विनीकुमारों की प्रार्थना करता हूँ। मैं बिना गुरु की आज्ञा लिए उसे खाने का साहस नहीं कर सकता। तब अश्विनीकुमारों ने उससे कहा—तुम्हारी इस गुरुभक्ति से हम दोनों प्रसन्न हैं। तुम्हारे आचार्य के काले लोहे के दाँत हैं। तुम्हारे दाँत सोने के होंगे और तुम्हारी आँखें ठीक हो जायँगी तथा तुम्हारा कल्याण होगा। ऐसा कहने पर वह अश्विनीकुमारों द्वारा आँखें पाकर आचार्य के पास आया और उसने उन्हें प्रणाम करके सब बातें सुना दीं। आचार्य उस पर प्रसन्न हो उठे और बोले—जैसा

आहतुः तथा त्वं श्रेयोऽवाप्स्यसीति । सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति ।' एषा तस्यापि परीक्षा उपमन्योः ।

वेदः

अथापरः शिष्यस्तस्यैव आयोदस्य धौम्यस्य वेदो नाम । तमुपाध्यायः संदिदेश—'वत्स वेद ! इहास्यताम् । भवता मद्गृहे कञ्चित् कालं शुश्रूषमाणेन भवितव्यम्, श्रेयस्ते भविष्यतीति' स तथेत्युक्त्वा गुरुकुले दीर्घकालं गुरुशुश्रूषणपरोऽवसत् । गौरिव नित्यं गुरुषु धूर्षु नियुज्यमानः शीतोष्णक्षुत्-तृष्णा-दुःखसहः सर्वत्राऽप्रतिकूलः । तस्य महता कालेन गुरुः परितोषं जगाम । तत्परितोषाच्च श्रेयः सर्वज्ञतां च अवाप । एषा तस्यापि परीक्षा वेदस्य ।

स उपाध्यायेनानुज्ञातः समावृत्तः तस्मात् गुरुकुलवासात् गृहाश्रमं प्रत्यपद्यत । तस्यापि स्वगृहे वसतः त्रयः शिष्या बभूवुः । स शिष्यान् न किंचिदुवाच । कर्म वा क्रियतां गुरुशुश्रूषा वेति । दुःखाभिज्ञो हि गुरुकुलवासस्य । शिष्यान् क्लेशेन योजयितुं न इयेष ।

अश्विनीकुमारों ने कहा है, तुम उसी प्रकार कल्याण प्राप्त करोगे । तुम्हें सम्पूर्ण वेदों का परिज्ञान हो जायगा । यह उपमन्यु की परीक्षा थी ।

उस आयोद धौम्य का दूसरा शिष्य वेद नाम वाला था । उसे आचार्य ने आज्ञा दी—पुत्र ! यहीं बैठो । कुछ समय तक तुम मेरे घर सेवक के समान रहो । तुम्हारा कल्याण होगा 'ऐसा ही करूँगा' उसने ऐसा कह कर उस गुरु की सेवा करते हुए बहुत दिन तक निवास किया । भारी बोझा ढोने में नियुक्त किये हुये बैल के समान प्रसन्नता से वह शीत-गर्मी, भूख-प्यास आदि दुःख सहता हुआ गुरु की सेवा में लगा रहा । बहुत दिन बीत जाने पर गुरु संतुष्ट हुए । उनकी संतुष्टि से उसने कल्याण और संपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया । यह वेद की परीक्षा थी ।

वह आचार्य की आज्ञा से गुरुकुल से लौट कर गृहस्थ बन गया । अपने घर में रहते हुए उसके भी तीन शिष्य हुए उसने अपने शिष्यों से कुछ नहीं कहा । काम करो अथवा गुरु की सेवा । वह गुरुकुल में रहने का कष्ट जानता था । अतः शिष्यों को किसी कष्ट में नहीं डालना चाहता था ।

गङ्गावतरणम्

(विष्णुपुराणात्)

(चतुर्थेऽशे चतुर्थोऽध्यायः)

(ई० पू० ४५०)

पराशर उवाच—कश्यप-दुहिता सुमतिः, विदर्भराजतनया च केशिनी, द्वे भार्ये सगरस्य आस्ताम्। ताभ्यां च अपत्यार्थमाराधितः और्वः परमेण समाधिना वरमदात्। एका वंशधरम् एकं पुत्रम् , अपरा षष्टिं पुत्र-सहस्राणि जनयिष्यतीति। यस्याः यदभिमतं तदिच्छया गृह्यताम् इत्युक्ते केशिनी पुत्रमेकं सुमतिः षष्टिपुत्रसहस्राणि वव्रे। तथेति च ऋषिणाऽभिहिते अल्पैरेव अहोभिः एका एकम् असमञ्जसं नाम वंशधरं पुत्रमसूत केशिना, विनता-तनयायाः तु सुमत्याः षष्टिः पुत्रसहस्राण्यभवन्। तस्मादसमञ्जसः अंशुमान् नाम कुमारो जज्ञे। स तु असमञ्जसः बाल्यादेव अपवृत्तः। पिता चास्य अचिन्तयत् यद् अयमतीतबाल्यः बुद्धिमान् भविष्यतीति। अथ तत्रापि वयसि अतीते तच्चरितमेव एनं पिता तत्याज। तान्यपि षष्टिः कुमारसहस्राणि असमञ्जसमनुचक्रुः। ततश्च अस-

---

गंगावतरण

पराशर ने कहा—सगर की दो स्त्रियाँ थीं-एक कश्यप की पुत्री सुमति तथा दूसरी विदर्भराज की पुत्री केशिनी। उन दोनों ने बड़ी निष्ठा से और्वऋषि की अराधना की। उन्होंने वर दिया—एक, वंश को बढ़ाने वाला एक, तथा दूसरी साठ हजार पुत्र पैदा करेगी। जिसे जो इच्छा हो वह-वह वर ले ले। केशिनी एक पुत्र तथा सुमति ने साठ हजार पुत्र का वरण किया। ऋषि के कथनानुसार थोड़े ही दिनों में केशिनी ने वंश को बढ़ाने वाले असमञ्जस नामक पुत्र को उत्पन्न किया और बिनता की पुत्री सुमति से साठ हजार लड़के पैदा हुए। उस असमञ्जस से अंशुमान नाम के कुमार पैदा हुए। असमञ्जस बचपन से ही बुरे स्वभाव का था। इसके पिता ने सोचा कि बचपन बीत जाने पर यह समझदार हो जायगा। किन्तु बचपन बीतने पर भी वैसे ही आचरण करने वाले उसको पिता ने घर से निकाल दिया। किन्तु उन साठ हजार कुमारों ने भी असमञ्जस का ही अनुकरण

मञ्जसचरितानुकारिभिः सागरैः अपध्वस्तयज्ञसन्मार्गे जगति, देवाः सकलविद्यामयमसंस्पृष्टम् अवशेषदोषैःभगवतः पुरुषोत्तमस्य अंशभूतं कपिलम् ऋषिं प्रणम्य तदर्थमूचुः 'भगवन् एभिः सगरतनयैः असमञ्जसचरितम् अनुगम्यते। कथमेवम् एभिः अनुसरद्भिः जगद् भविष्यतीत्यार्त्तजगत्परित्राणाय च भगवतः अत्र शरीरकरणमिति आकर्ण्य भगवान् अल्पैरेव दिनैः एते विनंक्ष्यन्तीति उक्तवान्। तत्रान्तरे च सगरो हयमेधमारेभे। तत्र पुत्रैः अधिष्ठितमस्य अश्वं कोऽपि अपहृत्य भुवो विवरं प्रविवेश। ततश्च अश्वान्वेषणाय तनयान् युयोज। ततः तनयाश्च अतिनिर्बन्धेन वसुधातलम् एकैकः योजनं योजनमवनेः चखान। पाताले च अश्वं परिभ्रमन्तमवनिपतिनन्दनाः ते ददृशुः। नातिदूरस्थितं च भगवन्तम् अपघने शरत्काले अर्कमिव तेजोभिः अनवरतम् ऊर्ध्वमधश्च अशेषदिशः उद्भासयमानं कपिलम् ऋषिमपश्यन्। ततश्च उद्यतायुधाः दुरात्मा अयमस्मदपकारी यज्ञविघातकर्त्ता हयहर्त्ता हन्यतां हन्यतामित्यधावन्। ततश्च तेनापि भगवता किञ्चित् ईषत् परिवर्तितलोचनेन अवलोकिताः

किया। उन असमञ्जस जैसे बुरे आचरण वाले सगर-पुत्रों ने संसार में यज्ञ आदि अच्छे मार्गों को नष्ट कर डाला। इस पर देवताओं ने संपूर्ण विद्याओं से युक्त, संपूर्ण दोषों से रहित भगवान् पुरुषोत्तम के अंशावतार कपिल ऋषि को प्रणाम करके कहा—भगवान् ! ये सगर के लड़के असमञ्जस के कुकृत्यों का ही अनुसरण कर रहे हैं। इनके ऐसा करने से संसार का क्या होगा ? और दुखी संसार की रक्षा करने के लिए आपका अवतार हुआ है। ऐसा सुनकर भगवान् ने कहा—थोड़े ही दिनों में ये नष्ट हो जायँगे। इसी बीच राजा सगर ने अश्वमेध आरंभ किया। उस समय उसके पुत्रों से रक्षित घोड़े को कोई चुरा कर पृथ्वी के बिल में घुस गया। तब राजा सगर ने घोड़े को खोजने के लिए पुत्रों को नियुक्त किया। उन लड़कों ने अत्यंत उद्दंडता के साथ पृथ्वी के एक-एक योजन को खोद डाला। उन राजकुमारों ने पाताल में घोड़े को घूमते हुए देखा और शरत् काल में बादलों के हट जाने पर सूर्य के समान निरंतर तेज से ऊपर-नीचे सभी दिशाओं को प्रकाशित करते हुए कपिल ऋषि को देखा। तब हथियार लेकर वे 'यह दुष्ट है, यही हमारा अपकार करने वाला है, यज्ञ का विनाशक है, घोड़े का चुराने वाला है, मारो, मारो' यह कहते हुए दौड़े। इसके पश्चात् भगवान् कपिल ने उन्हें कुछ

स्वशरीरमुत्थेन अग्निना दह्यमानः विनेशुः। सगरोऽपि अनुगम्य अश्वानुसारि तत्पुत्रबलमशेषं परमर्षिकपिल-तेजसा दग्धमंशुमन्तम् असमञ्जसं पुत्रमश्वानयनाय चोदयामास। स तु सगरतनय-खात-मार्गेण कपिलमुपगम्य भक्तिनम्रः तथा तथा तुष्टाव यथा एनं भगवान् आह—'गच्छ, एनं पितामहाय अश्वं प्रापय, वरं वृणीष्व च। पुत्रपौत्रश्च ते स्वर्गाद् गङ्गामानयिष्यती'ति। अथ अंशुमानपि, ब्रह्मदण्डहतानाम् अस्मत्पितॄणां स्वर्गाय अस्वर्गयोग्यानां स्वर्गप्राप्तिकरं वरमस्माकं भगवान् प्रयच्छतु—इत्याह। तं च आह भगवान्—'उक्तमेव एतन्मया पुत्रस्ते त्रिदिवाद् गङ्गां भुवमानयिष्यतीति। तदम्भसा संस्पृष्टेषु अस्थिभस्मसु एते स्वर्गमारोक्ष्यन्तीति।'

भगवद्विष्णुपादाङ्गुष्ठविनिर्गतजलस्य हि तत् यत् न केवलमभिसंधिपूर्वकं स्नानाद्युपभोगेषूपकारकम् अनभिसंहितमपि अपेतप्राणस्य अस्थिचर्मस्नायुकेशादि उत्सृष्टं शरीरजं यद् भूपतितं सद्यः शरीरिणं स्वर्गं नयतीत्युक्तः, प्रणम्य च भगवते अश्वमादाय पितामहयज्ञमाजगाम।

टेढ़ी निगाहों से देखा और अपने शरीर से उठी हुई आग में जला कर नष्ट कर दिया। राजा सगर ने घोड़े का अनुसरण करने वाली अपनी पुत्र-सेना को पूर्णतः कपिल के तेज में जली हुई सुनकर असमंजस के पुत्र अंशुमान को घोड़ा लाने के लिए भेजा। उसने सगर के पुत्रों द्वारा खोदे हुए मार्ग से कपिल के पास जाकर भक्तिपूर्वक नम्र होकर उन्हें इस प्रकार प्रसन्न किया जिससे भगवान् ने कहा—जाओ, यह घोड़ा अपने दादा के पास पहुंचा दो और वर मांगो। तुम्हारे पुत्र पौत्र स्वर्ग से गंगा को ले आएंगे। अंशुमान ने कहा—ब्रह्मदण्ड से मारे गए हमारे पितरों के स्वर्ग के लिए स्वर्ग प्राप्त कराने वाला कोई वर दीजिए। कपिल ने उससे कहा—मैंने कहा है कि तुम्हारा पुत्र गंगा को स्वर्ग से भूमि पर ले आएगा। उसका जल अस्थि भस्म पर पड़ने से ये स्वर्ग चले जायंगे।

भगवान् विष्णु के पैरों के अंगूठे से निकला हुआ यह वही जल है जो नियमपूर्वक स्नानादि करने से ही लाभप्रद नहीं है, बल्कि प्राणरहित पृथ्वी पर पड़े हुए मनुष्य के हड्डी, चमड़े, नाड़ी, बाल आदि शरीर के किसी अंग पर पड़ने से शरीरधारी को स्वर्ग पहुंचा देता है। अंशुमान ऋषि को प्रणाम करके घोड़े को लेकर अपने दादा के यज्ञ में चला गया।

सगरोऽपि अश्वमादाय तं यज्ञं समापयामास। सागरं च आत्मजप्रीत्या पुत्रत्वे कल्पयामास। तस्यापि अंशुमतः दिलीपः पुत्रोऽभवत्। दिलीपस्यापि भगीरथो योऽसौ गङ्गां स्वर्गादिहानीय भागीरथीसंज्ञां चकार।

श्रीवासुदेवस्य दौत्यम्

(दूतवाक्यात्)

महाकविः भासः

(ई० पू०—४००)

[सर्वेषु नाटककारेषु प्राचीनतमोऽयं भासः। अयमंशः भासरचितात् दूतवाक्यमिति नामधेयात् व्यायोगात् उद्धृतः। अत्र महाभारतीया कथा वर्णिता। श्रीकृष्णः वासुदेवः पाण्डवानां दूतो भूत्वा दुर्योधनस्य सभायामगच्छति। राज्यार्धं च दायाद्य दुर्योधनं याचते किन्तु दुर्योधनः दातुं नेच्छति।]

कञ्चुकी—जयतु जयतु महाराजः। एष खलु पाण्डवशिबिराद् दौत्येन आगतः पुरुषोत्तमो नारायणः।

दुर्योधनः—मा तावत् भो वादरायण! किं किं स कंसभृत्यः दामोदरः तव पुरुषोत्तमः? स गोपालकः? तव पुरुषोत्तमः? आः सत्वरं निर्गच्छ मम पुरतः।

राजा सगर ने घोड़े को पाकर यज्ञ को समाप्त किया और पुत्र प्रेम के कारण सागर को ही अपना पुत्र बना लिया। उस (सागर के पौत्र) अंशुमान से दिलीप पैदा हुए। दिलीप से भगीरथ हुए, जिसने गंगा को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाकर उसका नाम भागीरथी कर दिया। (दिलीप के पुत्र 'रघु' या 'भगीरथ' द्र. 'इन्दुमती' टीका रघुवंश सर्ग ३ का पर्यालोचन)

भगवान् कृष्ण का दूतकर्म

कंचुकी—महाराज की जय हो, जय हो! पांडवों के शिविर से दूत रूप में पुरुषोत्तम नारायण आए हैं।

दुर्योधन—हे बादरायण! ऐसा मत कहो? क्या वह कंस का सेवक, जो रस्सी से बांधा गया था, तुम्हारा पुरुषोत्तम है? क्या वह गायों को चराने वाला तुम्हारा पुरुषोत्तम है? शीघ्र ही मेरे सामने से चले जाओ।

कञ्चुकी—प्रसीदतु प्रसीदतु महाराजः। दूतः प्राप्तः केशवः।

दुर्योधनः—भोः, सम्यक् कथयसि साम्प्रतम्। भो भो राजानः! योऽस्य केशवस्य कृते प्रत्युत्थास्यति, तमहं दण्डयिष्यामि।

बादरायण! प्रवेशय अधुना तं दूतम्।

कंचुकी—यद् आज्ञापयति महाराजः। (इति निर्गच्छति)

दुर्योधनः—वयस्य कर्ण अद्य कृष्णमतिः स कृष्णः पाण्डवानां दौत्येन अत्रागच्छति। युधिष्ठिरस्य नारीमृदूनि वचनानि श्रोतुं, त्वमपि कर्णौ सज्जय।

(ततः प्रविशति वासुदेवः कंचुकी च)

वासुदेवः—(स्वगतम्) कथं कथं मां विलोक्य संभ्रान्ताः सर्वे राजानः? (प्रकाशम्) अलमलं संभ्रमेण। ननु स्वैरमासतां भवन्त।

दुर्योधनः—(स्वगतम्) कथं कथं केशवं दृष्ट्वा संभ्रान्ता सर्वे नृपाः? (वासुदेवं प्रति) भो दूत! एतदासनम् आस्यताम्।

वासुदेवः—आचार्य! आस्यताम् श्रीभीष्मप्रमुखा राजानः! स्वैर-मासतां श्रीमन्तः। वयमप्युपविशामः।

कंचुकी—महाराज! प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। दूत केशव आए हैं।

दुर्योधन—हाँ, अब ठीकसे कहा है। हे राजाओ! जो इस केशव (जलके मुर्दे) के स्वागतमें उठ खड़ा होगा उसेमैं दंड दूँगा। बादरायण अब उस दूतको ले आओ।

कंचुकी—जैसी महाराज की आज्ञा। (चला जाता है)

दूर्योधन—मित्र कर्ण, आज कृष्ण बुद्धि वाला कृष्ण पांडवों का दूत बन कर यहां आया है। युधिष्ठिर की स्त्री-समान कोमल वाणी सुनने के लिए अपने कानों को खोल लो।

(कृष्ण और कंचुकी प्रवेश करते हैं)

वासुदेव—(अपने आप) मुझे देख कर सभी राजा क्यों हड़बड़ा से उठे हैं? (सुनाकर) आप लोग शान्त रहें और स्वच्छन्दतापूर्वक बैठे रहें।

दुर्योधन—(अपने-आप) केशव को देख कर सभी राजे क्यों हड़बड़ा से गए हैं? (कृष्ण से) हे दूत, यह आसन है, बैठो।

वासुदेव—आचार्य, बैठिए। श्री भीष्म प्रमुख राजाओ! आप लोग भी बैठिए! हम भी बैठ रहे हैं।

दुर्योधनः—भो दूत! धर्मात्मजः, वायुसुतो भीमः, इन्द्रपुत्रो मे भ्राता अर्जुनः, विनीतौ च नकुलसहदेवौ—कच्चित् सन्ति सर्वे कुशलिनः?

वासुदेवः—सदृशमेतत् गान्धारीपुत्रस्य। कुशलिनः सर्वे। भवतो राज्ये शरीरे च कुशलमनामयं पृष्ट्वा विज्ञापयन्ति युधिष्ठिरादयः पाण्डवाः-

अनुभूतं महद् दुःखं, सम्पूर्णः समयश्च सः।
अस्माकमपि धर्म्यं यद् दायाद्यं तद् विभज्यताम्॥

दुर्योधनः—कथं कथं दायाद्यमिति? देवात्मजास्ते नैवार्हन्ति दायाद्यम्।

वासुदेवः—भो राजन्! मा सैवम्। एवं परस्परविरोधस्य विवर्धनेन कुरुकुलं शीघ्रमेव नामशेषं भविष्यति। अत एव क्रोधं वैरञ्च अपहाय तदेव भवान् कर्तुमर्हति यत् त्वां युधिष्ठिरमुखाः प्रणयात् कथयन्ति।

दुर्योधनः—मनुष्याणां देवात्मजैः सह कथं बन्धुता भवेत्? भवन्तस्तु पिष्टपेषणमेव कुर्वन्ति। अस्य विषयस्य तु कथाऽपि न कर्तव्या।

वासुदेवः—भो दुर्योधन! न जानीषे तावदर्जुनस्य पराक्रमम्। पशुपतिमपि स युद्धे नाप्रीणयत्। इन्द्रादयोऽपि यस्य विक्रमं नितरां प्रशं-

---

दुर्योधन—हे दूत! धर्मपुत्र युधिष्ठिर, वायुपुत्र भीम, इन्द्र के पुत्र मेरे भाई अर्जुन और वे विनम्र नकुल तथा सहदेव सभी कुशलपूर्वक हैं न?

वासुदेव—गान्धारी (अंधी) के पुत्रका यह कहना उचित ही है! सभी कुशलपूर्वक हैं। युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने आप के राज्य की कुशलता और आप के शरीर के स्वास्थ्य के बारे में पूछा है और कहा है कि—

'हम लोगों ने बड़ा दुःख उठाया। वह १४ वर्ष का समय भी बीत गया, अतः धर्मानुकूल हमारा आधा दायादी हिस्सा बाँट दीजिए।'

दुर्योधन—कैसा दायादी हिस्सा? वे तो देवताओं के लड़के हैं, अतः उन्हें हिस्सा नहीं मिल सकता।

वासुदेव—हे राजन्! ऐसा न कहें। इस प्रकार परस्पर विरोध बढ़ाने से शीघ्र ही कौरवों का नाम ही बच जायगा। इसलिए क्रोध और शत्रुता छोड़ कर आप को वही करना चाहिए जिसे युधिष्ठिर आदि ने प्रेमपूर्वक कहा है।

दुर्योधन—मनुष्यों का देवपुत्रों के साथ भ्रातृत्व कैसे हो सकता है? आप तो वही पुराना राग आलाप रहे हैं। इस विषय की चर्चा भी न कीजिए।

वासुदेव—दुर्योधन, अर्जुन के पराक्रम को तुम नहीं समझ रहे हो। उसने युद्ध द्वारा शंकर को भी प्रसन्न कर लिया है। इन्द्रादि भी जिसके पराक्रम की नित्य

सन्ति। स महावीरो देवेन्द्रार्त्तिकारान् निवात-कवचान् नाम दैत्यान् लीलयैव व्यनाशयत्। एक एव च विराड्-नगरे भीष्मादीन् महारथिनोऽजयन्। किं बहुना :—

दातुमर्हसि मद्वाक्याद् राज्यार्धं धृतराष्ट्रज !
अन्यथा सागरान्तां गां हरिष्यन्ति हि पाण्डवाः ॥

दुर्योधनः—कथं कथं हरिष्यन्ति हि पाण्डवाः? भोः परुष-वचन-दक्ष! शृणु तावत्—यदि युद्धे भीमरूपो मारुतोऽपि मां प्रहरति, साक्षात् अर्जुनरूपेण च इन्द्रश्च प्रहरति, तथापि त्वद्वचोभिः तृणमपि न दास्ये, किं पुनः राज्यार्धम्।

वासुदेवः—एवमेवास्तु। न वयमनुक्तसंदेशाः गन्तुमिच्छामः। तदाकर्ण्यतां युधिष्ठिरस्य सन्देशः—

शठ, बान्धव-निःस्नेह, काम, पामर, पिङ्गल !
त्वदर्थात् कुरुवंशोऽयमचिरान्नाशमेष्यति ॥

भो भो राजानः! गच्छामो वयं तावत्। (इति निर्गच्छति)

प्रशंसा करते हैं। उस महावीर ने इन्द्र को कष्ट देने वाले निवातकवच संज्ञक दैत्यों को खिलवाड़ ही में नष्ट कर दिया। विराट नगर में भीष्म आदि महारथियों को अकेले ही जीत लिया। अधिक क्या—

'हे दुर्योधन ! मेरे कहने से आधा राज्य दे दो, अन्यथा पाण्डव सागरपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वी तुमसे छीन लेंगे।'

दुर्योधन—भला पाण्डव कैसे छीन लेंगे? कठोरवादी, सुन तो सही—यदि युद्ध में भीम रूप में वायु भी मेरे ऊपर प्रहार करें और अर्जुनरूप में साक्षात इन्द्र भी प्रहार करें तब भी तुम्हारे कहने से मैं एक तिनका भी नहीं दूँगा, फिर आधे राज्य का कहना ही क्या?

वासुदेव—ऐसा ही हो। मैं बिना संदेशकहे जाना नहीं चाहता हूँ। इसलिए युधिष्ठिर का संदेश सुनो—

'दुष्ट, भाइयों के प्रेम से रहित, स्वार्थी और नीच दुर्योधन ! तुम्हारे कारण यह कुरुवंश शीघ्र ही नष्ट हो जायगा।'

हे राजाओ ! अब हम चल रहे हैं। (चले जाते हैं)

दारिद्र्य—दुःखम्

(मृच्छकटिकात्)

शूद्रकः

(ई० पू०—२००)

[अयमधस्तनः सन्दर्भः महाकवेः शूद्रकस्य मृच्छकटिकनामधेयात् नाटकात् उद्धृतः। अयं हि कविः भास-कालिदास-परवर्ती। इदं नाटकं भासस्य चारुदत्तेति-नामधेयस्य अपूर्णस्य चतुरङ्कात्मकस्यैव कथामादाय रचितम्। अतः अत्र साम्यं दृश्यते स्पष्टमेवोभयोः। पूर्वं धनिकः पश्चाद् दरिद्रः चारुदत्तः ऊर्ध्वमालोक्य सनिर्वेदं यावद् निःश्वसिति तावत् विदूषकः प्रविश्य]—

विदूषकः—एष आर्य चारुदत्तः। तद् यावत् साम्प्रतमुपसर्पामि। (उपसृत्य) स्वस्ति भवते। वर्धतां भवान्।

चारुदत्तः—अये सर्वकालमित्र मैत्रेयः प्राप्तः? सखे, स्वागतम्। आस्यताम्।

विदूषकः—भो इदं किं चिन्त्यते?

चारुदत्तः—वयस्य !

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते,
घनान्धकारेष्विव दीप-दर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां,
धृतः शरीरेण मृतः स जीवति॥

दरिद्रता का दुःख

विदूषक—ये आर्य चारुदत्त हैं? तो उनके पास चलूं। (पास जाकर) आपका कल्याण हो। आपकी वृद्धि हो।

चारुदत्त—अरे सब समय के साथी मैत्रेय आए हैं? मित्र स्वागत है। बैठिए।

विदूषक—यह क्या सोच रहे हैं।

चारुदत्त—मित्र !

'दुःख का अनुभव कर लेने पर सुख उसी प्रकार अच्छा लगता है जैसे घने अंधकार में दीपक का दिखाई पड़ना। किन्तु जो व्यक्ति सुख भोगने के बाद दरिद्र हो जाता है वह शरीर धारण करते हुए भी मरा हुआ सा जीवित रहता है।'

विदूषकः—भो वयस्य। मरणाद् दारिद्र्याद् वा कतरत्ते रोचते ?

चारुदत्तः—वयस्य !

दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम्।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥

विदूषकः—भो वयस्य ! अलं सन्तापितेन। प्रणयिजनेषु सङ्क्रामित-विभवस्य सुर-जन-पीत-शेषस्य प्रतिपच्चन्द्रस्येव परिक्षयोऽपि ते रमणीयः।

चारुदत्तः—न मम अर्थान् प्रति दैन्यम्। पश्य—

एतत्तु मां दहति यद् गृहमस्मदीयं
क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति।
संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः,
कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम् ॥

विदूषकः—भो वयस्य ! एते खलु दास्याः पुत्राः अर्थ-कल्य-वर्त्ताः, वरटा-भीताः इव गोपालदारकाः अरण्ये यत्र यत्र न खाद्यन्ते तत्र तत्र गच्छन्ति।

चारुदत्तः—वयस्य !

विदूषक—मित्र मरने और दरिद्रता में तुम्हें कौन अच्छा लगता है ?

चारुदत्त—हे मित्र !

'दरिद्रता और मृत्यु में मुझे मृत्यु अच्छी लगती है न कि दरिद्रता। क्योंकि मरनेमें तो थोड़ी देर कष्ट होता है, किन्तु दरिद्रता तो अनन्तकाल तक दुःखदेती है।

विदूषक—मित्र, दुखी होना व्यर्थ है। प्रेमियों में अपने वैभव को लुटाकर देवताओं से पिये गए चन्द्रमा के समान तुम्हारा इस प्रकार क्षीण (धनहीन) हो जाना भी सुन्दर है।

चारुदत्त—धन के प्रति मुझे कोई दुःख नहीं। देखो—

'जैसे मद की रेखा सूख जाने पर भौंरे हाथियों के कपोल पर मँड़राना छोड़ देते हैं वैसे ही मेरे घर को धनहीन समझ कर अतिथियों ने छोड़ दिया है। यही बात मुझे जला रही है।'

विदूषक—मित्र ! वे नीच तो धन के लालची हैं। वे तो बर्रें से डरे हुए ग्वालों के बच्चों जैसे इधर-उधर होते रहते हैं।

चारुदत्त—मित्र !

सत्यं न मे विभवनाशकृताऽस्ति चिन्ता,
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।
एतत्तु मां दहति नष्टधनाश्रयस्य,
यत् सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥

अपि च—

दारिद्रयाद्ध्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते,
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥

विदूषकः—भो वयस्य ! तमेव अर्थ-कल्यवार्त्तं स्मृत्वा अलं सन्तापितेन।

चारुदत्तः—वयस्य, दारिद्र्यं हि पुरुषस्य—

निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजन-जन-विद्वेष-करणम् ।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रान् परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च ॥

'सचमुच मुझे धननाश की कोई चिन्ता नहीं है, क्योंकि भाग्य के परिवर्तन से धन होता भी है और चला भी जाता है। किन्तु धनहीन व्यक्ति के मित्र भी उसका परित्याग कर देते हैं—यही बात मुझे कष्ट पहुंचाती है।'

और भी—

'दरिद्रता से लज्जा आती है. लज्जा आने से तेज नष्ट हो जाता है और तेज-रहित पराजित हो जाता है. पराजय से उदासीनता उत्पन्न होती है, उदासीनता से शोक होता है और शोकयुक्त व्यक्ति बुद्धिहीन हो जाता है तथा बुद्धिहीन का नाश हो जाता है। इस प्रकार दरिद्रता सभी आपत्तियों का कारण होती है।

विदूषक—मित्र उन धन के लालचियों का स्मरण करके दुखी होना व्यर्थ है।

चारुदत्त—मित्र, दरिद्रता मनुष्य के लिए—

'चिन्ता का निवास है, शत्रुओं से पराजित कराने वाली है, दूसरों से शत्रुता कराने वाली है, मित्रों से घृणा कराती है और अपने लोगों का द्वेषी बना देती है। वन में चले जाने की बुद्धि उत्पन्न करती है। स्त्री से अपमान कराती है। इस प्रकार दरिद्र के हृदय में स्थित शोक की अग्नि जलाकर उसे भस्म नहीं कर बल्कि पीड़ा पहुंचाती रहती है।'

तद् वयस्य, कृतो मम देवताभ्यो बलिः, गच्छ त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपाहर ।

शब्दानुशासन-प्रयोजनानि

(पतञ्जलिः)

(ई० पू०—१५०)

[अयं हि स्वल्पः अंशः पतञ्जलिकृतात् महाभाष्यादुद्धृतः । अत्र शब्दानुशासनस्य—व्याकरणशास्त्रस्य—किं प्रयोजनमिति संक्षेपेण प्रतिपादयति भगवान् भाष्यकारः पतञ्जलिः ।

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ? रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् । रक्षार्थं वेदानाम् अध्येयं व्याकरणम्, लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यति । ऊहः खल्वपि, न सर्वैः लिङ्गैः न सर्वाभिः विभक्तिभिः वेदे मन्त्राः निगदिताः । ते च अवश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः । तान् न अवैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुं, तस्माद् अध्येयं व्याकरणम् । आगमः खलु अपि भवति—ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति । प्रधानञ्च षडङ्गेषु व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति ।

इसलिए मित्र ! मैंने देवताओं को बलि दी है, जाओ तुम भी चौराहे पर मातृकाओं को बलि दे आओ ।

व्याकरण का प्रयोजन

फिर व्याकरण के क्या प्रयोजन हैं ? रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह ये प्रयाजन हैं । वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए । लोप, आगम और वर्णविकारों को जानने वाला ही पूर्ण रूप से वेदों का पालन करेगा । ऊह भी है । वेद में मंत्र सभी लिंगों और सभी विभक्तियों द्वारा नहीं कहे गए हैं । यज्ञ करते समय पुरुषों द्वारा वे योग्यतानुसार अवश्य ही ठीक-ठीक उच्चरित होने चाहिए । उन्हें व्याकरण न जानने वाला ठीक-ठीक नहीं उच्चारण कर सकता । इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए । आगम भी होता है । ब्राह्मण का निःस्वार्थ धर्म-छहों अंगों के साथ वेद पढ़ना और उसे समझना है । छहों में प्रधान व्याकरण है । अतः प्रधान में किया हुआ प्रयत्न सफल होता है ।

लघ्वर्थं च अध्येयं व्याकरणम्। ब्राह्मणेन अवश्यं शब्दाः ज्ञेयाः इति। न चान्तरेण व्याकरणं लघुना उपायेन शब्दाः शक्याः विज्ञातुम्।

असन्देहार्थं चापि अध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति स्थूलपृषतीम् आग्निवारुणीम् अनड्वाहीमालभेत इति। तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि वा पृषन्ति यस्याः सा इयं स्थूलपृषती इति तां न अवैयाकरणः स्वरतः अध्यवस्यति। यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः। अथ समासान्तोदात्तत्वं ततः तत्पुरुषः इति।

अंगुलीयकप्राप्तिः
अभिज्ञानशाकुन्तलात्
कालिदासः
(ई० पू० प्रथम शताब्दी)

[राज्ञा दुष्यन्तेन शकुन्तलायै दत्तं निजस्मारकस्वरूपम् अंगुलीयकं तस्याः हस्तात् नद्यां पतितम्। तच्च केनचित् मत्स्येन खादितम्। स च मत्स्यः केनचित् निषादेन धृतः खण्डशः कृतश्च। तस्मिन् खण्डशः क्रियमाणे तस्य उदरात् तद् अंगुलीयकं निःसृतम्। तदादाय गच्छन् धीवरः राजपुरुषैः चौर इति कृत्वा धृतः राज्ञे निवेदितश्च।]

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः, पश्चात् बद्धं पुरुषम् आदाय रक्षिणौ च)

'लघु' के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिए। ब्राह्मण को अवश्य शब्दों का ज्ञान करना चाहिए। व्याकरण के अतिरिक्त अन्य किसी लघु उपाय से शब्द नहीं जाने जा सकते।

असन्देह के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिए। यज्ञ कराने वाले पढ़ते हैं 'स्थूलतृषतीम् आग्निवारुणीम् अनड्वाहीम् आलमेत' इसमें सन्देह होता है— स्थूला चासौ तृषती, स्थूलानि वा पृषन्ति यस्याः सा इयम् स्थूलपृषती' इसे व्याकरण न जानने वाला स्वर से नहीं कह सकता। यदि पूर्व पद-प्रकृति-स्वरत्व है तो बहुव्रीहि है, यदि समासान्त में उदात्त है तो तत्पुरुष है।

मुद्रा का मिलना

(इसके पश्चात् कोतवाल श्याल और उसके पीछे बंधे हुए एक पुरुष को लिए हुए दो सिपाही आते हैं।

रक्षिणौ—(पुरुषं ताडयित्वा) कुम्भीरक ! कथय कुत्र त्वया एतद् मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयम् अंगुलीयकं समासादितम् ?

पुरुषः—(भीतिं नाटयित्वा) प्रसीदन्तु भावमिश्राः ! अहं नेदृशकर्मकारी।

प्रथमः—तत् किं त्वं शोभनः ब्राह्मणः इति कृत्वा राज्ञा प्रतिग्रहः दत्तः।

पुरुषः—शृणुत इदानीम्। अहं शक्रावतारग्रामवासी धीवरः।

द्वितीयः—पाटच्चर (चौर !) किमस्माभिः जातिः पृष्टा ?

श्यालः—कथयतु सर्वमनुक्रमेण। मा एनमन्तरा प्रतिबधान।

उभौ—यद् आर्यपुत्रं आज्ञापयति। 'कथय'।

पुरुषः—अहं जालोद्गालादिभिः मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि।

श्यालः—(विहस्य) विशुद्धः इदानीमस्याजीवः।

पुरुषः—
सहजं किल यद् विनिन्दितं
नहि तत्कर्म विवर्जनीयकम्।
पशुमारणकर्मदारुणः
अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥

दोनों सिपाही—(पुरुष को मारकर) चोट्टे ! बता तो सही यह मणियुक्त और राजा के नाम से अंकित अँगूठी तुझे कहाँ मिली ?

पुरुष (भय का अभिनय करके) आप लोग प्रसन्न हों। मैं ऐसा काम (चोरी) करनेवाला नहीं हूँ।

पहला—तो क्या तुम्हें उत्तम ब्राह्मण समझ कर राजा ने दान कर दिया है ?

पुरुष—अब सुनिए—मैं शक्रावतार गाँव का रहने वाला धीवर हूं।

दूसरा—चोट्टे ! क्या हम लोग तेरी जाति पूछ रहे हैं ?

श्याल—उसे क्रमपूर्वक सभी बातें कहने दो, बीच में टोको मत।

दोनों—जैसी आर्यपुत्र की आज्ञा। 'कहो'।

पुरुष—मैं जाल और कटिया द्वारा मछली फँसाकर अपने परिवार का पोषण करता हूँ।

श्याल—(हँस कर) इसकी जीविका का ढंग तो बड़ा विशुद्ध है ?

पुरुष—'जो कर्म जिसकी वंशपरंपरा से आ रहा हो वह निन्दित होते हुए भी उसके द्वारा नहीं छोड़ने योग्य होता है। दया से कोमल चित्त होते हुए भी श्रोत्रिय ब्राह्मण यज्ञ में पशु की बलि देते समय निष्ठुर हो जाता है।'

श्यालः—ततः ततः ?

पुरुषः—अथ एकस्मिन् दिवसे रोहितमत्स्यः मया खण्डशः कल्पितः। तस्य उदराभ्यन्तरे इदं रत्नभासुरम् अंगुलीयं दृष्टवान्। ततोऽहं तस्य विक्रयाय दर्शयन् भावमिश्रैः गृहीतः अधुना मारयत वा कुट्टयत वा। अयमेव अस्य आगम-वृत्तान्तः।

श्यालः—जानुक ! विस्रगन्धी, गोधादी, मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम्। अंगुलीयकदर्शनमस्य विमर्शनीयम्। राजकुलमेव गच्छामः।

रक्षिणौ—तथा। गच्छ अरे ग्रन्थिभेदक !

(सर्वे परिक्रामन्ति)

श्यालः—सूचक ! इह पुरद्वारे अप्रमत्तौ प्रतिपालयतं माम्। यावदिदम् अंगुलीयकं यथागमनं भर्त्रे निवेद्य ततः शासनं प्रतिगृह्य निर्गच्छामि।

उभौ—प्रविशतु आर्यः, स्वामिप्रसादाय।

(निष्क्रान्तः श्यालः)

सूचकः—जानुक ! चिरायते खलु आवुत्तः।

श्याल—हाँ, तब ?

पुरुष—एक दिन मैंने रोहू मछली को कई टुकड़ों में काटा। उसके पेट में इस बहुमूल्य रत्नजटित अँगूठी को देखा। इसके पश्चात् इसे बेचने के लिए दिखाते हुए आप लोगों द्वारा पकड़ लिया गया। अब मारिए या काटिए। यही इसके मिलने की कथा है।

श्याल—जानुक ! इसमें से बिसायँध मांस की गन्ध आ रही है अतः इस अँगूठी के मिलने पर पूर्ण विचार होना चाहिए। चलो राजदरबार में ही चलें।

दोनों सिपाही—ठीक है। चल रे गिरहकट !

(सब चलते हैं)

श्याल—सूचक ! तुम दोनों इस द्वार पर सावधानी से मेरी प्रतीक्षा करो तब तक मैं इस अँगूठी के मिलने का समाचार स्वामी से कह कर उनकी आज्ञा लेकर आता हूँ।

दोनों—ठीक है, आप स्वामी को प्रसन्न करने के लिए भीतर जाइये।

(श्याल चला जाता है)

सूचक—जानुक ! स्वामी देर कर रहे हैं।

जानुकः—ननु अवसरोपसर्पणीया राजानः ।

सूचकः—जानुक ! स्फुरतः मे हस्तौ अस्य वधार्थम् । सुमनसःपिनद्धम् ।

पुरुषः—नार्हति भावः अकारणमारणः भवितुम् ।

जानुकः—(विलोक्य) एषोऽस्माकं स्वामी पत्रहस्तः गृहीत्वा राजशासनमागच्छति । शुनः मुखं वा द्रक्ष्यसि, गृध्रबोलिर्वा भविष्यसि । सूचक ! मुच्यतामेष जालोपजीवी । उपपन्नः किल अस्य अङ्गुलीयस्य आगमः आजीवश्चास्मै दत्तः भर्त्रा ।

सूचकः—यथा भणति भवान् ।

जानुकः—एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः ।

(पुरुषं मुक्तबन्धनं करोति)

पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य) भर्तः ! कीदृशो मे आजीवः ?

श्यालः—एष भर्त्रा अंगुलीयकमूल्यतुल्यः पारितोषिको दत्तः । (इति पुरुषाय धनं प्रयच्छति)

पुरुषः—(सप्रणामं प्रतिगृह्य) अनुगृहीतोऽस्मि ।

जानुक—राजा से अवसर पाकर ही तो कुछ कहा जाता है ।

सूचक—जानुक ! इसे मार डालने और वध्य चिन्ह पहनाने को मेरे हाथ फड़क रहे हैं ।

पुरुष—आपको व्यर्थ ही इसे नहीं मारना चाहिए ।

जानुक—(देख कर) ये हमारे स्वामी हाथ में राजा का आज्ञापत्र लिए आ रहे हैं । या तो कुत्ते का मुंह देखेगा अथवा गिद्धों की वलि होगा ।

श्याल—(आकर) सूचक ! इस धीवर को छोड़ दो । इस अँगूठी के मिलने की बात इसने ठीक-ठीक बताई है । स्वामी ने इसे उपहार दिया है ।

सूचक—जैसी आपकी आज्ञा ।

जानुक—यह यमलोक में पहुंच कर फिर लौट आया ।

(पुरुष को बन्धन से मुक्त कर देता है)

पुरुष—(श्याल को प्रणाम करके) स्वामी ! मुझे कैसा उपहार दिया है ?

श्याल—स्वामी ने अँगूठी के मूल्य के बराबर यह पारितोषिक दिया है ।

(पुरुष को धन देता है)

पुरुष—(प्रणाम करते हुए लेकर) मैं अनुगृहीत हुआ ।

सूचकः—एष नाम अनुग्रहः यत् शूलात् अवतार्य हस्तिस्कन्धे स्थापितः।

जानुकः—आवुत्त ! परितोषं कथयति भवान् । तत् तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः सम्मतेन भवितव्यम् ।

श्यालः—न तस्मिन् महार्हं रत्नं भर्तुः बहुमतमिति तर्कयामि । तस्य दर्शनेन भर्तुः अभिमतः जनः कश्चित् स्मारितः । मुहूर्त्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकनयन् आसीत् ।

सूचकः—सेवितं नाम आयुत्तेन ।

श्यालः—ननु भण अस्य मत्स्यशत्रोः कृते । (इति पुरुषं सतिरस्कारं पश्यति)

पुरुषः—भट्टारक ! इतोऽर्धं युष्माकं सुमनो मूल्यं भवतु ।

जानुकः—एतद् । युज्यते ।

श्यालः—धीवर ! महत्तरस्त्वं प्रियवयस्यः इदानीं संवृत्तः ।

(इति निष्कान्ताः सर्वे)

सूचक—स्वामी ने तो इस पर ऐसा अनुग्रह किया मानो शूली से उतार कर हाथी पर बिठा दिया हो ।

जानुक—आर्यपुत्र ! आप इसे इनाम कहते हैं। तो स्वामी के लिए यह अँगूठी विशेष आदरणीय है ।

श्याल—इस अँगूठी में महान रत्न हैं इसलिए आदरणीय नहीं है । मैं समझता हूँ कि इसके दर्शन द्वारा स्वामी को कोई प्रिय व्यक्ति याद आ गया है, क्योंकि स्वभाव से गंभीर होते हुए भी क्षण भर के लिए स्वामी अत्यन्त उत्कण्ठित हो गए थे ।

सूचक—तव तो अपने स्वामी को प्रसन्न कर दिया ।

श्याल—इस धीवर के लिए ऐसा कहो। (अर्थात् मैंने नहीं इस धीवर ने किया है)

पुरुष—इसमें का आधा आप लोगों के शराब के लियें होना चाहिये ।

जानुक—यही उचित है ।

श्याल—धीवर ! इस समय तुम हमारे सबसे बड़े मित्र हो गए हो ।

(सब चले जाते हैं)

पञ्चतन्त्रम्

श्रीविष्णुशर्मा

(ई० द्वितीयशतकम्)

अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तत्र सकलार्थिकल्पद्रुमः, प्रवर-नृप-मुकुट-मणि-मरीचि-चर्चित-चरणयुगलः सकलकला-पारङ्गतः अमरशक्तिर्नाम राजा बभूव। तस्य त्रयः पुत्राः परमदुर्मेधसः वसुशक्तिः, उग्रशक्तिः, अनेकशक्तिश्चेति नामानो बभूवुः।

अथ राजा तान् शास्त्रविमुखानालोक्य सचिवानाहूय प्रोवाच—भोः, ज्ञातमेतद् भवद्भिः यत् ममैते पुत्राः शास्त्रविमुखाः विवेकरहिताश्च, तदेतान् पश्यतो मे महदपि राज्यं न सौख्यमावहति। अथवा साध्विदमुच्यते—

अजात-मृत-मूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम्।
यतस्तौ स्वल्प-दुःखाय यावज्जीवं जडो दहेत्॥
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न भक्तिमान्।
किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा॥

दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का एक नगर था। वहाँ सभी याचकों के कल्पवृक्ष, श्रेष्ठ राजाओं की मुकुटमणि की किरणों से पूजित चरणवाले, सभी कलाओं के ज्ञाता अमरशक्ति नामवाले राजा हुए। उनके वसुशक्ति, उग्रशक्ति और अनेकशक्ति नामवाले तीन महान् मूर्ख लड़के हुए।

राजा ने उन्हें शास्त्र-ज्ञान से रहित देखकर मन्त्रियों को बुलाकर कहा—आप लोग जानते हैं कि मेरे ये लड़के शास्त्ररहित और ज्ञानहीन हैं। इन्हे देख कर मैं इतने बड़े राज्य से भी सुखी नहीं हो पा रहा हूं। यह बिलकुल ठीक कहा गया है कि—

'पुत्र का पैदा ही न होना, होकर मर जाना तथा मूर्ख होकर जीवित रहना इन तीनों में मर जाना अथवा पैदा ही न होना अच्छा है, क्योंकि इन दोनों से तो थोड़ा ही कष्ट होता है किन्तु मूर्ख तो जब तक जीता रहता है कष्ट पहुंचाता रहता है।'

'उस पुत्र के पैदा होने से कोइ लाभ नहीं जो न तो विद्वान् है न तो भक्त ही। भला उस गाय से क्या लाभ जो न बच्चा ही देती है न दूध ही।'

तदेतेषां मम पुत्राणां यथा बुद्धि-प्रकाशो भवति तथा कोऽप्युपायोऽनुष्ठीयताम्, अत्र च मद्दत्तां वृत्तिं भुञ्जानानां पण्डितानां पञ्चशती तिष्ठति, ततो यथा मनोरथाः सिद्धिं यान्ति तथाऽनुष्ठीयताम्।

तत्रैकः प्रोवाच—देव! द्वादशभिः वर्षैः व्याकरणं श्रूयते, ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि, एवं च ततो धर्मार्थकामशास्त्राणि ज्ञायन्ते। ततः प्रतिबोधनं भवति।

तन्मध्यतोऽपरः सुमतिनामा आह—अशाश्वतोऽयं जीवितव्यविषयः प्रभूत-कालज्ञेयानि शब्दशास्त्राणि, तत् संक्षेपमात्रं शास्त्रं किञ्चिदेषां प्रबोधनार्थं चिन्त्यताम् इति।

उक्तं च—

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥

तदत्रास्ति विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मणः सकलशास्त्रपारङ्गतः, छात्रसंसदि

इसलिए मेरे इन पुत्रों की बुद्धि जिस प्रकार बढ़े, आप लोग वैसा ही कोई उपाय कीजिए। यहां मेरे द्वारा दी गई जीविका का उपभोग करनेवाले पांच सौ पण्डित हैं। इसलिये जैसे मेरी अभिलाषा पूरी हो आप लोग वैसा ही करें।

उनमें से एक ने कहा—राजन्! १२ वर्ष में व्याकरण पढ़ा जाता है, इसके पश्चात् मनु आदि के धर्मशास्त्र, फिर चाणक्यादि के राजनीतिशास्त्र और फिर वात्स्यायन आदि के कामशास्त्र। इस प्रकार धर्म और कामशास्त्र का ज्ञान होता है। इसके पश्चात् विवेक होता है।

उनमें से सुमति नामवाले दूसरे ने कहा—जीवन बहुत ही थोड़े समय का है और शब्दशास्त्र का ज्ञान बहुत समय में होता है। इसलिए संक्षिप्त रूप से इन्हें शास्त्र का ज्ञान हो जाय—ऐसा विचार कीजिए। कहा भी है—

'शब्दशास्त्र का पार पाना अगम्य है। आयु थोड़ी है और विघ्न बहुत अधिक हैं। इसलिए तत्त्वहीन वस्तुओं को छोड़ कर तत्त्व को उसी प्रकार ग्रहण कर लेना चाहिए जैसे हंस जल के बीच से दूध ग्रहण कर लेता है।'

इसलिए सम्पूर्ण शास्त्रों में प्रवीण और विद्यार्थियों में प्रसिद्ध एक विष्णुशर्मा

लब्धकीर्तिः तस्मै समर्पयत्वेतान्, स नूनं द्राक् प्रबुद्धान् करिष्यतीति ।

स राजा तदाकर्ण्य विष्णुशर्माणमाहूय प्रोवाच—भो भगवन् ! मद्-नुग्रहार्थमेतान् अर्थशास्त्रं प्रति द्राग् यथानन्यसदृशान् विदधासि तथा कुरु । तदहं त्वां शासन-शतेन योजयिष्यामि ।

अथ विष्णुशर्मा तं राजानमूचे—देव ! श्रूयतां मे तथ्यवचनम्; नाहं विद्या-विक्रयं शासन-शतेनापि करोमि, पुनरेतांस्तव पुत्रान् मासषट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान् न करोमि ततः स्वनामत्यागं करोमि । नाहम् अर्थ-लिप्सुरेवं ब्रवीमि यतः मम अशीतिवर्षस्य, व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य न किञ्चिदर्थेन प्रयोजनम्; किन्तु त्वत्प्रार्थना-सिद्ध्यर्थं सरस्वती-विनोदं करिष्यामि ।

अथासौ राजा तां ब्राह्मणस्य असम्भाव्यां प्रतिज्ञां श्रुत्वा ससचिवः प्रहृष्टो विस्मयान्वितः तस्मै सादरं तान् कुमारान् समर्प्य परां निर्वृतिमा-जगाम । विष्णुशर्मणापि तानादाय तदर्थं मित्रभेद-मित्रप्राप्ति-काकोलू-

---

नामक ब्राह्मण यहाँ रहता है । आप इन्हें उसे ही समर्पित करें । अब अवश्य ही इन्हें शीघ्र बुद्धिमान् बना देगा ।

राजा ने ऐसा सुनकर विष्णुशर्मा को बुलाकर कहा—भगवन् ! मेरे ऊपर कृपा करके इन्हें शीघ्र ही अर्थशास्त्र में निपुण कर दीजिए । मैं आपको सैकड़ों जागीरें दूँगा ।

विष्णुशर्मा ने उस राजा से कहा—राजन् ! मेरी सत्य बातें सुनिए । मैं सैकड़ों जागीरों पर भी विद्या नहीं बेचूँगा । किन्तु तुम्हारे इन पुत्रों को यदि ६ मास के ही भीतर नीतिशास्त्र का ज्ञाता न बना दूँ तो मैं अपने नाम का परि-त्याग कर दूँगा । मैं धन का लालची बन कर ऐसा नहीं कह रहा हूँ, क्योंकि मेरी अवस्था अस्सी वर्ष की हुई, सम्पूर्ण इन्द्रियां अपने विषयों से विमुख हो चुकी हैं, अतः मुझे धन की कोई इच्छा नहीं । किन्तु आपकी प्रार्थना सफल करने के लिये सरस्वती का विनोद करूँगा ।

राजा उसकी असंभव प्रतिज्ञा सुनकर मंत्रियों-सहित अत्यन्त प्रसन्न और आश्चर्य-चकित हुआ तथा आदर के साथ उसे कुमारों को सौंप कर उसने शान्ति की सांस ली । विष्णुशर्मा ने उनके लिए मित्रभेद, मित्रप्राप्ति, काकोलूकीय,

कीय-लब्धप्रणाश-परीक्षितकारकाणीति पञ्चतन्त्राणि रचयित्वा पाठितास्ते राजपुत्राः, तेऽपि तान्यधीत्य मासषट्केन यथोक्ताः संवृत्ताः। ततः प्रभृति एतत् 'पञ्चतन्त्रम्' नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले संप्रवृत्तम्।

शिबेः उपाख्यानम्

(पञ्चतन्त्रात्)

अस्ति राजा शिबिर्नाम सकल-भूपाल-मौलि-माला-चर्चित-चरणः परमकारुणिकः सकलार्थि-जन-सम्पादित-मनोरथः। तस्य अनन्य-सदृश्या दानशीलतया यशः त्रिदिवमारुरोह।

अथ कदाचिदाखण्डलश्चिन्तयामास—नास्ति दानशीलः शिबिना तुल्यः। तत् कोऽस्याभिप्रायः, कियद्वा सत्त्वमस्य इति जिज्ञासया धर्म-माहूय स्वयं कपोतोऽभवत्। धर्मश्च श्येनः कपोतस्य पृष्ठतः त्वरितगतिः अभिभवितुं प्रवृत्तः।

अथ तस्य राज्ञः सुखासनस्थस्य प्रभातसमये एव आस्थानगतस्य

लब्धप्रणाश और अपरीक्षितकारक नामवाले पाँच तंत्रों की रचना करके उन्हें पढ़ाया। वे राजकुमार भी उन्हें पढ़कर छः मास में ही विद्वान् बन गए। उसी समय से पंचतंत्र नाम का यह नीतिशास्त्र बालकों के ज्ञान के लिए पृथ्वी पर प्रसिद्ध हुआ।

राजा शिबि की कहानी

सम्पूर्ण राजाओं की मस्तक-माला से पूजित चरणवाला, सभी याचकों की अभिलाषाओं को पूरा करने वाला परमदयालु, शिबि नाम का एक राजा था। उसकी महान दानशीलता से उसका यश स्वर्ग तक पहुँच गया।

एक बार इन्द्र ने विचार किया—शिबि के समान दानी कोई नहीं है। इसलिए इसकी क्या अभिलाषा है और इसमें कितनी महत्ता—यह जानने की इच्छा से धर्म को बुलाया और वह स्वयं कबूतर बन गया। धर्म बाज बनकर उस कबूतर के पीछे बड़ी तेजी से आक्रमण करने के लिए दौड़ा।

राजा प्रातःकाल के समय सभा में सुखपूर्वक बैठे थे। उसी समय काँपता

असौ कपोतः कम्पमानो भय-तरल-नेत्र-तारकः करुण-रसितमाविष्कुर्वन् चरणसमीपे सहसैव सन्निपतितः, प्रोवाच च भयगद्गदया गिरा—'राजन्! शरणागतोऽस्मि ते, परित्रायस्व मां श्येनात्।' अथ श्येनोऽपि राज्ञः पुरतः पपात। सोऽपि राजन्! मुञ्च-मुञ्च, क्षुधातुरस्य मे भक्ष्यं समर्पयस्वेति प्रोच्चैरुवाच। कपोत आह—'देव! शरणागतस्य मे परित्राणमर्हसि कर्तुम्, स्वशरीराण्यपि साधवो नित्यं शरणागतार्थं त्यजन्ति, न शरणागतम्।' श्येनोऽब्रवीत्—'राजन्! सकलमनोरथ--दाता किल श्रूयसे। अतो मे भक्ष्यमेनं दातुमर्हसि। प्राणसंशयमापन्नोऽस्मीति।'

असावपि राजा जातकरुणः कथमेतदिति संभ्रान्तो दोलारूढ इव सान्त्वयन् श्येनमाह—'नैष सतां पन्थाः शरणागतत्यागः, तदहं मांसमन्यदेव ते दापयामि, यावत् तृप्तिमवाप्नोषीति'। श्येन आह—'न वयं परहतपिशितभुजः, स्वयं जीवतः मांसानि उष्णरुधिर-कललानि आस्वादयामहे, किन्तु यावन्मात्रमिदं कपोतमांसं तुलितं भवति तावन्मे स्वमांसं प्रयच्छेति।'

हुआ, भय के कारण पुतलियों को इधर-उधर घूमाता हुआ तथा लक्षण ध्वनि करता हुआ यह कबूतर राजा के चरणों के पास आ गिरा और भयभीत वाणी में बोला—'राजन् 'मैं आपकी शरण आया हूँ। इस बाज से मेरी रक्षा कीजिए।' बाज भी राजा के सामने आया और उच्च स्वर से बोला—'राजन्! छोड़िए, छोड़िए, मुझे भूखे का भोजन मुझे दीजिए।' कबूतर ने कहा—'देव! मुझे शरणागत की रक्षा कीजिए। सज्जन लोग शरणागत के लिए अपना शरीर दे देते हैं किन्तु शरणागत को नहीं छोड़ते।' बाज ने कहा—'आप सभी अभिलाषाओंको पूरा करने वाले हैं। अतः आप मेरा वह भोजन दे दीजिए। मैं भूख के कारण मरा जा रहा हूँ।'

राजा भी अत्यन्त करुणा से भर गए और यह क्या घटना है, इस विषय में झूले पर जैसे आश्चर्यचकित होकर (दुविधा में पड़कर) उस बाज को संतोष देते हुए बोले—'शरणागत का परित्याग करना सज्जनों का मार्ग नहीं है इसलिए मैं तुम्हें दूसरा मांस दिलाऊँगा जिससे तुम्हारी तृप्ति हो जाय।' बाज ने कहा—'मैं दूसरे द्वारा मारे गए मांस को नहीं खाता। मैं जीवित प्राणी के मांस और गरम खून का स्वाद लेता हूँ, तौल में जितना इस कबूतर का मांस हो, उतना ही अपना मांस मुझे दीजिए।'

बाढम्, दातास्मीति राज्ञि प्रतिपन्ने हाहाकारः समभूद् भूभुजाम्—'देव मा साहसं कार्षीः, एष श्येनरूपी राक्षसः त्वद्विनाशहेतुः आगतः इति।' एवमार्त्तिनादे वर्तमाने तुलां कपोतः समारोपितः। कक्षां तत्समां कृत्वा स्वमांसम् अङ्गावयवात् उत्कृत्य आरोपितं न च कपोतसमं भवत्येव। अशेषावयव-विलुप्त-पिशितः शिबिर्यदा कपोतस्य न तुल्यतां संजगाम तदा 'नमः सर्वविदे धर्माय' इति कृत्वा स्वयमेव तुलामधिरूढः।

अथ दिवि देवदुन्दुभयः प्रणेदुः। अविरल-कुसुम-वृष्टि-सारः समीरणः प्रववौ। साधु साध्विति दशस्वपि दिक्षु वाचो विचेरुः। अत्रान्तरे धर्मपाकशासनौ प्रकटितरूपौ तं राजानमाहतुः—'साधु महीनाथ! शोभनस्ते अतिनिपुणः प्राणिधर्मः विज्ञातः परमार्थतः त्वमेव जिज्ञासितः। तदिदं शरीरं ते पुरातनमिवास्तु, कोशमक्षयम्, धर्मे च ते सदा मतिः भूतभूतये भवतु' इत्युक्त्वा अन्तर्धानमागतौ।

'बहुत अच्छा! मैं दूँगा।' राजा के ऐसा कहने पर राजाओं में हाहाकार मच गया। 'देव ऐसा साहस मत कीजिए। यह बाजरूपी राक्षस आपके विनाश के लिए आया है। इस प्रकार के कोलाहल में कबूतर तराजू पर रखा गया। तराजू के दूसरे पलड़े पर राजा ने अपने शरीर के अंग से मांस काट कर रखा किन्तु वह कबूतर के बराबर नहीं हुआ। जब राजा शिवि शरीर का सम्पूर्ण मांस समाप्त हो जाने पर भी उस कबूतर की समता न कर सके तब 'सर्वज्ञाता धर्म को नमस्कार है' ऐसा कह कर स्वयं तराजू पर चढ़ गए।

इसके पश्चात् स्वर्ग में देवताओं ने दुन्दुभि बजाना पारम्भ किया और निरंतर फूलों की वर्षा करने वाली हवा चलने लगी। दसों दिशाओं में 'साधु साधु' का शब्द फैल गया। इसी बीच धर्म और इन्द्र ने प्रकट होकर राजा से कहा—'राजन्! धन्य हो, समझ में आ गया कि तुम्हारा प्राणिधर्म सुन्दर एवं प्रशंसनीय है। वस्तुतः हम तुम्हें ही जानना चाहते थे। इसलिए तुम्हारा शरीर पहले जैसा हो जाय, तुम्हारा खजाना कभी न चुके और तुम्हारी बुद्धि धर्म तथा प्राणियों के कल्याण में लगी रहे।' एसा कह कर वे दोनों अदृश्य हो गए।

वर्षा-समय-वर्णनम्

वासवदत्तातः

सुबन्धुः (ई०—६००)

[अयं हि गद्यभागः सुबन्धुकविकृतात् वासवदत्तानामकात् गद्यमहाकाव्याद् उद्धृतः । अत्र श्लेषमयैः वाक्यैः कविः वर्षासमयस्य वर्णनं करोति ।]

एकदा तु कतिपयमासापगमे काकली-गायन इव समृद्ध-निम्नगा-नदः, सायन्तन-समय इव नर्त्तित-नील-कण्ठः, कुमार-मयूर इव समारूढ-शरजन्मा, महातपस्वी इव प्रशमित-रजःप्रसरः, तापस इव धृत-जलद-करकः प्रलय-काल इव दर्शितानेक-तरणि-विभ्रमः, निरुपद्रव-कानन-प्रदेश इव घनोत्सुकितसारङ्गः, रेवती-कर-पल्लव इव हलि-धृत-करः, लङ्केश्वर इव समेघनादः, विन्ध्य इव घनश्यामः, समाजगाम वर्षा-समयः ।

वर्षा समय-वर्णन

एक बार कुछ मास बीतने के पश्चात् वर्षा ऋतु आई, जिसमें नदियां और नद जल से उसी प्रकार पूर्ण थे जैसे काकली-गायन गम्भीर तानों से परिपूर्ण होता है । उस समय शंकर जी के नृत्य से युक्त संध्याकाल के समान मयूर नृत्य करने लगे । कुमार से अधिष्ठित मोर के समान सरकंडे (तृणविशेष) अधिकता से उत्पन्न हो गए । उसने धूल को उसी प्रकार शान्त कर दिया था जैसे कोई बड़ा तपस्वी अपनी राजस प्रवृत्तियों को शान्त कर देता है । वह बादल और ओले उसी तरह धारण किए हुए थी जैसे तपस्वी जल देने वाली कमंडल लिए रहता है । जैसे प्रलयकाल में अनेक सूर्यों के विलास का प्रकाश दिखाई पड़ता है उसी प्रकार नदियों में अनेक नावों का विलास होने लगा । जिस तरह घने जंगल शांत प्रदेश में हरिणों को आनन्दविभोर कर देते हैं उसी प्रकार इस वर्षाकाल के घने बादलों ने चातकों को आनन्दसन्त कर दिया है । यह वर्षाकाल हलधारी कृषकों को उसी प्रकार धैर्य दे रहा था जैसे रेवती के पल्लवों के समान लाल-लाल हाथ बलराम जी को सहारा देते थे । यह वर्षा का समय बादलों के साथ उसी प्रकार गर्जन कर रहा था जैसे रावण अपने पुत्र मेघनाद के साथ गरज रहा था ।

विभिन्न-मेघ-नीलोत्पल-कानने क्रीडासरसीव नभसि, स्मरस्य रत्न-नौकेव, जलदकाल-लक्ष्मी-मातङ्ग-कन्या-नर्तन-रज्जुरिव, नभः, सौध-तोरण-रत्न-मालिकेव, गगन-लक्ष्मी-बन्धुर-रशना-मालेव नभो मन्दार-तरु-सुन्दर-कलिकेव, रतिनखमार्जन-रत्न-शलाकेव, रत्नमयी विलास-यष्टिरिव कुसुमकेतोः इन्द्रधनुर्लता रराज।

अतितृष्णावेगपीत-जलनिधि-जलशंखमालां, वलाकाच्छलाद् उद्वमन्निव अदृश्यत जलधरनिकरः। पीतहरितैः कृष्ण-केदारिका-कोष्ठिकासु समुत्पतद्भिर्जतुशवलैरिव, दर्दुरशिशुकैर्नयद्यूतैरिव विद्युता चिक्रीड वर्षाकालः। रवि-दीप-कज्जल-निचयनिभे निकषोपले इव मेघ-समय-सुवर्णकार-निकषित सुवर्ण-लेखेव तडिदशोभत।

यह समय विन्ध्याचल के समान घने काले बादलों से श्याम वर्ण का दिखाई पड़ रहा था।

उस समय मेघों से आच्छादित आकाश में इन्द्रधनुष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मेघरूपी अनेक नीले कमलों से नील वर्ण वाले आकाशरूपी क्रीडा सरोवर में कामदेव की रत्नमयी नौका दिखाई दे रही हो, अथवा वर्षाकाल की सुन्दरतारूपी चाण्डालकन्या की नृत्य करनेवाली रस्सी हो, अथवा आकाशरूपी महल के वाहरी द्वार पर शोभित रत्नों की माला हो, अथवा आकाशकी शोभारूपी नायिका के कमर की करधनी हो, अथवा आकाशरूपी मन्दार वृक्ष की सुन्दर कली हो, अथवा रति के तखों को साफ करने की रत्नों से निर्मित सलाई हो, अथवा कामदेव की घूमने के समय साथ रहनेवाली रत्नजटित छड़ी हो।

बादलों के नीचे उड़ती हुई बगुलों की पंक्तियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो अत्यन्त प्यास के आदेश में समुद्र का जल पीते समय बादलों ने उसके भीतर रहनेवाले शंखों को भी पी लिया हो जिसे अब वमन करके बाहर निकाल रहा है। उस समय नीले रंग की क्यारीरूपी कोष्ठिकाओं में उछल-उछल कर चलते हुए मेढकों के पीले और हरे बच्चे लाख से बने मोहरों के समान लगते थे मानो वर्षाकाल बिजली के साथ शतरंज खेल रहा हो, काले बादलों के वीच बिजली इस प्रकार शोभित हो रही थी मानो सूर्यरूपी दीपक के धूमसमुह बादलरूपी कसौटी पर वर्षाकालरूपी सुनार ने मोने की रेखा खींच दी हो।

शुक-जन्म-कथा

बाणभट्टः

(ई०—६४०)

[अधस्तनं गद्यं महाकवि-बाण-भट्टकृतात् 'कादम्बरी' ग्रन्थात् उद्धृतम् । शुकरूपधारी वैशम्पायनः राज्ञः शूद्रकस्य राजसभायां समुपस्थाय आत्मजन्म-वृत्तान्तं कथयति ।]

अथ मुहूर्त्तादिव वैशम्पायनः प्रतीहार्या गृहीत-पञ्जरः कनकवेत्रलता-वलम्बिना किंचिद् अवनतपूर्वकायेन सित-कञ्चुकावच्छन्नवपुषा जरा-धवलित-मौलिना गद्‌गदस्वरेण मन्द-मन्दं सञ्चारिणा विहङ्ग-जाति-प्रीत्या जरत्कलहसेनेव कञ्चुकिना अनुगम्यमानः राजान्तिकमाजगाम। क्षिति-तल-निहित-करतलस्तु कञ्चुकी राजानं व्यज्ञापयत्—'देव ! देव्यो विज्ञा-पयन्ति—देवादेशादेष वैशम्पायनः स्नातः कृताहारश्च देवपाद-मूलं प्रतीहार्या आनीतः' इत्यभिधाय गते च तस्मिन् राजा वैशम्पायनमपृच्छत्—'कच्चिद् अभिमतमास्वादितमभ्यन्तरे भवता किञ्चिद् अशनजातम् ?' इति। स प्रत्युवाच—'देव ! किं वा नास्वादितम् ? आमत्ताकोकिल-

---

शुक-जन्म-कथा

इसके पश्चात् क्षण मात्र में ही प्रतीहारी वैशम्पायन युक्त पिंजड़े को हाथ में लिए राजा के पास पहुंची। उसके पीछे-पीछे एक बूढ़ा ब्राह्मण कञ्चुकी भी था। वह हाथ में सोने से मढ़ी हुई बेंत की छड़ी लिए हुए था, उसका शरीर कमर से ऊपर झुका हुआ था, वह श्वेतवस्त्र धारण किए था, बुढ़ापे के कारण उसके बाल सफेद हो गए थे, वाणी गद्गद हो गई थी और गति अत्यंत मंद थी। उसे उस पक्षी (वैशम्पायन) के पीछे देख कर ऐसा प्रतीत होता था मानो पक्षियों के प्रेम के कारण कोई सुन्दर वृद्ध हंस आ रहा हो। उस कञ्चुकी ने पृथ्वी पर हाथ रखते हुए राजा से निवेदन किया—'राजन् ! रानियों ने संदेश दिया है कि आपकी आज्ञा के अनुसार वैशम्पायन को स्नान और भोजन कराकर प्रती-हारी के साथ आप के चरणों में भेज दिया है। ऐसा कह कर उसके चले जाने पर राजा ने वैशम्पायन से पूछा—'क्या आपने रनिवास में अपनी इच्छाके अनु-सार भोज्य पदार्थों का उपयोग कर लिया ?' उसने कहा—'राजन्, मैंने क्या

लोचनच्छविः नील-पाटलः कषाय-मधुरः प्रकाममापीतो जम्बूफल-रसः, खण्डितानि दाडिम-बीजानि, नलिनी-दल-हरिन्ति द्राक्षाफल-स्वादूनि च चूर्णितानि स्वेच्छया प्राचीनामलकीफलानि। किं वा प्रलपितेन बहुना। सर्वमेव देवीभिः स्वयं करतलोपनीयमानम् अमृतायते' इति। एवं वादिनो वचनमाक्षिप्य नरपतिरब्रवीत्—'आस्तां तावत् सर्वम्! अपनयतु नः कुतूहलम्। आवेदयतु भवान् आदितः प्रभृति कार्त्स्न्येन आत्मनः जन्म, कस्मिन् देशे भवान् कथं जातः, केन वा नाम कृतं का ते माता, कस्ते पिता, कथं वेदानामागमः, शास्त्राणां परिचयः, कुतः कलाः आसादिताः, किंहेतुकं जन्मान्तरानुस्मरणम्, उत वरप्रदानम्, अथवा विहङ्ग-वेषधारी कश्चिच्छन्नः निवससि, क्व वा पूर्वमुषितम्, कियद्वा वयः, कथं पञ्जर-बन्धनम्, कथं चाण्डाल-हस्त-गमनम्, इह वा कथमागमनमिति!'

वैशम्पायनस्तु स्वयम् उपजातकुतूहलेन सबहुमानम् अवनिपतिना पृष्टः मुहूर्तमिव ध्यात्वा सादरमब्रवीत्—देव! महती इयं कथा। यदि कौतुकम्, आकर्ण्यताम्—

नहीं खाया? मतवाले कोकिल के नेत्रों के समान लाल और नीले खटमिठ्ठे जामुन के रस को भली भाँति पिया है, अनार के बीजों को कुतरा है, कमल के पत्तों के समान हरे और दाखके समान स्वादिष्ट प्राचीन आंवले के फलों को इच्छानुसार खाया है। अधिक कहने से क्या लाभ। रानियों द्वारा स्वयम् अपने हाथों से लाई गई सभी वस्तुएं अमृततुल्य हो गई थीं।' इस प्रकार कहते हुए वैशम्पायन की बात को बीच ही में काट कर राजा ने कहा—'हाँ यह सब तो हुआ। अब आप मेरी जिज्ञासा दूर कीजिए और प्रारंभ से लेकर अपने जन्म की पूरी-पूरी कहानी बताइए। आपका जन्म किस देश में और कैसे हुआ, आप का नामकरण किसने किया, आपके माता पिता कौन हैं, आपने वेदों का ज्ञान कैसे पाया, आपका शास्त्रों से कैसे परिचय हुआ, आपने कलाएँ कहाँ सीखीं, आपको पूर्वजन्म के पुण्य से इतना स्मरण है या किसी ने वरदान दिया है, अथवा आप पक्षी के वेष में छिप कर रहते हैं, पहले आप कहाँ रहते थे, आप की आयु क्या है? आप पिंजड़े में किस प्रकार पड़े, चाण्डाल के हाथों में किस प्रकार आए और आप यहाँ किस अभिप्राय से आए हैं?'

राजा ने जब स्वयं कौतुक के साथ इस प्रकार सम्मान से पूछा तो वैशम्पायन-

अस्ति पूर्वापर-जलनिधि-वेलावलग्ना, मध्यदेशालङ्कारभूता, भुवः मेखला इव, अतिविकच-धवल-कुसुम-निकरम्, अत्युच्चतया तारागणकमिव शिखरप्रदेश-संलग्नम्, उद्वहद्भिः, पादपैः उपशोभिता, लतामण्डपैः विराजिता, सदा-सन्निहित-मृत्यु-भीषणा, शशोपगता, प्रनृत्तनील-कण्ठा, पल्लवारुणा, हरिणाध्यासिता, समद-गजघटा-परिपालिता, मृगपतिसेविता, निशाचर-परिगृहीता, प्रकटित-मधु-कोष-शता, प्रकीर्ण-विविधकुसुमा, कण्टकिता, कोकिल-कुल-प्रलापिनी, तमाल-नीला, कप्याक्रान्ता, वेत्र-लताशत-दुःसह-प्रवेशा, कीचक-शताकुला, मुनिजन-सेविता, पवित्रा विन्ध्याटवी नाम। तस्यां च सकल-भुवन-विख्यातं भगवतः महामुनेः अगस्त्यस्य भार्यया लोपामुद्रया स्वयमुपरचितालवालकैः करपुट-सलिल-संवर्द्धितैः, सुत-निर्विशेषैः पादपैः उपशोभितम्, बद्धवेणिकथा गोदावर्या परिगतम् आश्रमपदमासीत्। तस्य च अगस्त्याश्रमस्य नातिदूरे अगाधम्,

---

ने थोड़ी देर विचार करके आदरपूर्वक कहा—'राजन्, यह कहानी तो बहुत बड़ी है। यदि आपकी अभिलाषा है तो सुनिए—

पूर्व और पश्चिम के समुद्र तटों से मिली हुई, मध्यदेश के अलंकार और पृथ्वी की करधनी के समान पवित्र विन्ध्याटवी नाम की वनभूमि है, जो अत्यंत फूले श्वेत पुष्पों को धारण करनेवाले ऐसे वृक्षोंसे भरी हुई है जो अपनी ऊँचाईके कारण ऐसे लगते हैं मानो उनकी चोटियों पर तारे उगे हुए हों, जिसमें लताओं के बहुत से मंडप बने हुए हैं, जो सर्वदा मृत्यु का भय देनेवाली और खरगोशों से भरी हुई है, जिसमें मोर नाचते हैं, लाल-लाल पल्लवों से जो लाल दिखाई पड़ती है, जिसमें स्थान-स्थान पर मृग बैठे रहते हैं, मद से मतवाले हाथी जिसकी रक्षा करते रहते हैं, जिसमें सिंह भी पाये जाते हैं, जो राक्षसों से भरी हुई है, जिसमें सैकड़ों मधु के छत्ते दिखाई पड़ते हैं, जिसमें नाना प्रकार के फूल बिखरे रहते हैं, जो काँटों से भरी हुई है, जिसमें कोकिल बोलते रहते हैं, जो नीले तमाल के वृक्षों से भरी हुई है, जिसमें बन्दर भरे हुए हैं, जिसमें बेंत की लताओं के कारण प्रवेश करना कठिन है, जो सैकड़ों बाँस के वृक्षों से उलझी हुई है तथा जहाँ मुनियों के निवास बने हुए हैं। उसी वनभूमि में संपूर्ण लोकों में विख्यात महामुनि भगवान् अगस्त्य का आश्रम है, जो उनकी पत्नी भगवती लोपामुद्रा के हाथों से बनाये गए थालोंवाले तथा उनके ही हाथों से जल देकर बढ़ाए हुए बच्चों के समान वृक्षों से सुशोभित है, जिसके पास ही धारा रूपी वेणी बाँधे

अनन्तम्, अप्रतिमम्, अपां निधानं पम्पाभिधानं पद्मसरः। तस्य प्ररसः पश्चिमे तीरे दण्डकारण्यस्य अधिपतिः इव, सर्ववनस्पतीनां नायकः इव, विन्ध्यस्य सखा इव, महान् जीर्णः शाल्मलीतरुः। तस्यैव शाल्मलीतरोः एकस्मिन् जीर्णकोटरे जायया सह निवसतः पश्चिमे वयसि वर्त्तमानस्य कथमपि पितुः अहं विधि-वशात् सूनुः अभवम्। ममैवं जायमानस्य प्रसववेदनया जननी परलोकमगमत्! अतिपरिणतवयाश्च स्फुटाग्रकोटिना चञ्चुपुटेन नीडपतिताभ्यः शालिवटीभ्यः तण्डुलकणान् आदाय वृक्ष मूल-पतितानि च शुककुलावदलितानि फल-शकलानि समाहृत्य परिभ्रमितुमशक्तो मह्यमदात्। प्रतिदिवसमात्मना च परिभुक्तम् अशेषम् अकरोद् अशनम्।

अपुत्रस्य विषादः

(कादम्बरीतः)

विरत वचनायां तस्यां भूपालः तूष्णीं मुहूर्तमिव स्थित्वा दीर्घम्

गोदावरी नदी बहती है। उस आश्रम के समीप ही अगाध, अनन्त, अनुपमेय, जल का खजाना पंपा नामवाला कमलों से भरा हुआ तालाब है। उस तालाब के पश्चिम किनारे पर, दंडकारण्य के स्वामी के समान, संपूर्ण वनस्पतियोंके नायक के समान और विन्ध्याचल के मित्र के समान एक बहुत पुराना सेमल का पेड़ है। उसी सेमल के पेड़ के एक पुराने घोंसले में अपनी पत्नी के साथ मेरे पिता निवास करते थे। मैं उनकी बुढ़ौती में भगवान् की कृपा से एक मात्र पुत्र रूप में पैदा हुआ। मुझे पैदा करते हुए प्रसवपीड़ा के कारण मेरी मां मर गई। अत्यन्त बुढ्ढे हो जाने के कारण चलने फिरने में अशक्त मेरे पिता अपनी फटो हुई चोंच द्वारा दूसरे घोंसलों से गिरी हुई धान की बालों से चावल के कणों को लाकर तथा सुग्गों से कुतरे जाकर वृक्ष के नीचे गिरे हुए फल के टुकड़ों को इकट्ठा करके देते थे और प्रतिदिन मेरे खाने से बचे हुए पदार्थों को स्वयं खा लेते थे।

पुत्ररहित का शोक

उसके चुप हो जाने पर राजा ने थोड़ी देर चुप रह कर एक लम्बा उछ्वास लेते हुए कहा—देवि, जो वस्तु भगवान् के अधीन है उसके विषय में किया ही

उष्णञ्च निःश्वस्य निजगाद—'देवि ! किमत्र क्रियतां दैवायत्ते वस्तुनि ? अतिमात्रम् अलं रुदितेन । न वयम् अनुग्राह्याः प्रायः देवतानाम् । आत्मजपरिष्वङ्ग-सुखस्य नूनम् अभाजनम् अस्माकं हृदयम् । अन्यस्मिन् जन्मनि न कृतम् अवदातम् कर्म । जन्मान्तरकृतं हि कर्म फलमुपनयति पुरुषस्य, इह जन्मनि । न हि शक्यं दैवम् अन्यथाकर्तुम् अभियुक्तेनापि ।

यावत्तु मानुष्यके शक्यम् उपपादयितुं तावत् सर्वम् उपपाद्यताम् । अधिकां कुरु देवि ! गुरुषु भक्तिम् । द्विगुणाम् उपपादय देवतासु पूजाम् । ऋषि-जन-परिचर्यासु दर्शितादरा भव । परं हि दैवतं ऋषयः यत्नेन आराधिताः अतिदुर्लभानामपि वराणां दातारो भवन्ति । श्रूयते हि पुरा चण्डकौशिक-प्रभावाद् बृहद्रथो नाम राजा जरासन्धं नाम तनयं लेभे । दशरथश्च राजा ऋष्यशृङ्गस्य प्रसादाद् अवाप चतुरः पुत्रान् । अमोघफला हि महामुनिसेवा भवति ।

'मां दहति अहर्निशम् अनपत्यता समुद्भवः शोकः । शून्यमिव मे प्रतिभाति जगत् । अफलमिव पश्यामि राज्यम् । अप्रतिविधेये तु

क्या जा सकता है । अतः इतना अधिक रोना व्यर्थ है । हम लोग देवताओं के कृपापात्र नहीं हैं । हम लोगों का हृदय पुत्र के आलिंगन-सुख का अधिकारी नहीं है । हमने पूर्वजन्म में पुण्य कर्म नहीं किया है । पुरुष का पहले जन्म में किया हुआ कर्म ही इस जन्म में फल के पास पहुंचाता है । महायोगी भी भाग्य को बदलने में समर्थ नहीं हो सकता ।

हाँ, इस मनुष्य-लोक में जो कुछ भी अपने किए हो सके वह सब करना चाहिए । देवि, अब और अधिक गुरुभक्ति करो, देवताओं की पूजा पहले की अपेक्षा दूनी कर दो, ऋषियों की सेवा में सम्मान प्रदर्शन करो । ऋषि लोग श्रेष्ठ देवता हैं जो यत्नपूर्वक आराधना करने पर अत्यन्त दुर्लभ वरों को भी दे देते हैं । सुना जाता है कि प्राचीन काल में बृहद्रथ नाम के राजा ने महर्षि विश्वामित्र के प्रभाव से जरासन्ध नामवाले पुत्र को प्राप्त किया था और राजा दशरथ ने भी महर्षि शृङ्गी की कृपा से चार पुत्र पाये थे । महान् मुनियों की सेवा निश्चित फलदायिनी होती है ।

मुझे भी पुत्र न होने का शोक रात-दिन जलाता है । सारा संसार मुझे शून्य-सा और राज्य निष्फल-सा लगता है किंतु भाग्य की प्रतिकूलता के विपरीत मैं कर ही

विधातरि किं करोमि ? तन्मुच्यतां देवि ! शोकानुबन्धः । आधीयतां धैर्ये धर्मे च धीः ।'

इति अभिधाय, सलिलमादाय स्वयं करतलेन साश्रुलेखम् आननमस्याः ममार्ज । पुनः पुनश्च प्रियशत–मधुराभिः वाग्भिः आश्वास्य सुचिरं स्थित्वा नरेन्द्रो निर्जगाम । निर्गते च तस्मिन् विलासवती दिवसव्यापारमन्वतिष्ठत् । ततः प्रभृति सुतरां देवताराधनेषु, ब्राह्मणपूजासु, गुरुजनपरिचर्यासु च आदरवती बभूव । सिद्धायतनानि सिषेवे । अश्वत्थप्रभृतीन् वनस्पतीन् ववन्दे । अनवरतवाच्यमानाः पुण्यकथाः शुश्राव ।

गच्छति च काले कदाचित् राजा स्वप्ने विशालवत्याः आनने प्रविशन्तं शशिनमद्राक्षीत् । प्रबुद्धश्च शुकनासाय तं स्वप्नमकथयत् । स तं प्रत्युवाच—'अद्य खलु मया निशि स्वप्ने धौत-धवलवाससा शान्तमूर्तिना दिव्याकृतिना द्विजेन विकचं चन्द्रकलावदानदलशतं पुण्डरीकमुत्सङ्गे देव्याः मनोरमायाः निहितं दृष्टम् । आवेदयन्ति हि प्रत्यासन्नम् आनन्दम् अग्रजातानि शुभानि निमित्तानि । किञ्च अन्यद् आनन्दकरण-

---

क्या सकता हूँ । इसलिए हे देवि, इस शोक का परित्याग करो और अपनी बुद्धि को धैर्य तथा धर्म में स्थिर करो ।'

ऐसा कहकर पानी लेकर स्वयं राजा ने उसके आँसू से भरे हुए मुख को धोया और बार-बार सैकड़ों प्रिय बातों से उसे सान्त्वना देकर बड़ी देर तक बैठ कर बाहर चले गए । उनके चले जाने पर विलासवती दैनिक कार्यों में लग गई । उसी समय से वह देवताओं की आराधना, ब्राह्मणों की पूजा और गुरुजनों की सेवा में विशेष सम्मान-भाव रखने लगी । वह सिद्ध पीठों की सेवा करती, पीपल आदि वृक्षों को नमस्कार करती और निरन्तर कही जाने वाली पवित्र कथाओं को सुनती थी ।

कुछ दिन बीतने पर एक दिन राजा ने स्वप्न ने विलासवती के मुख में प्रवेश करते हुए चन्द्रमा को देखा । जागने पर राजा ने उस सपने को शुकनास से कहा । शुकनास ने राजा से कहा–'आज मैंने रात को स्वप्न में श्वेतवस्त्रधारी अत्यंत शांत देवता जैसे ब्राह्मण को फूले हुए चन्द्रकला जैसी सौ पंखड़ियोंवाले श्वेत कमल को देवी मनोरमा की गोद में रखते हुए देखा है । पहले ही दिखाई देने वाले शुभ लक्षण निकट आनेवाले आनन्द की सूचना देते है । इसके अतिरिक्त और कौन

मतो भविष्यति? अवितथ-फला हि प्रायः निशावसान-समय-दृष्टाः भवन्ति स्वप्नाः। सर्वथा न चिरेणैव मान्धातारमिव धौरेयं राजर्षीणां भुवनानन्द-हेतुमात्मजं जनयिष्यति देवी।' इत्थमेवमभिदधानमेव तं करेण गृहीत्वा नरेन्द्रः प्रविश्य अन्तःपुरम् उभाभ्यां ताभ्यां स्वप्नाभ्यां विलासवतीमानन्दयाञ्चकार।

मातङ्ग-चरितम्

(महाकविः दण्डी)

(ई०–६००)

अयं गद्यांशः दण्डिनः दशकुमारचरितात् समुद्धृतः। अत्र राजवाहनेन पृष्ठः मातङ्गः आत्मनः चरितं परिचयं च कथयति।]

राजवाहनः मङ्गल-सूचकं शुभ-शकुनं विलोकयन् देशं कञ्चित् अतिक्रम्य विन्ध्याटवी-मध्यम् अविशत्। अत्र हेति-हति-किणाङ्कं, कालायस-कर्कश-कायं, यज्ञोपवीतेन अनुमेयविप्रभावं, व्यक्त-किरात-प्रभावं, लोचन-पुरुषं ददर्श।

आनन्द हो सकता है रात्रि के अन्त में दिखाई देनेवाले स्वप्न निश्चित फलदायी होते हैं। थोड़े ही समय में देवी निश्चित ही राजर्षियों में श्रेष्ठ मान्धाता के समान पृथ्वी को आनन्दित करनेवाले पुत्र को जन्म देंगी। इस प्रकार कहते हुए शुकनास का हाथ पकड़ कर राजा उसे भीतर ले गये और उन दोनों स्वप्नों से महारानी विलासवती को आनन्दित कर दिया।

मातंग की कथा

राजवाहन मंगलसूचक शुभ शकुनों को देखता हुआ कई देशों को पार करके विन्ध्याटवी में प्रविष्ट हुआ। जहाँ उसने काले लोहे के समान कठोर शरीर वाले किसी पुरुष को देखा जिसके शरीर पर शस्त्रों के घावों के निशान थे, जो यज्ञोपवीत धारण करने के कारण ब्राह्मण प्रतीत हो रहा था; किन्तु देखने में किरात जैसा कठोर नेत्रवाला था।

तेन विहित-पूजनः राजवाहनः अभाषत—'ननु मानव ! जन-सङ्ग-रहिते, मृग-हिते, घोर-प्रचारे, कान्तारे विन्ध्याटवीमध्ये भवानेकाकी किमिति निवसति ? भवद्-अंसोपनीतं यज्ञोपवीतं भूसुर-भावं द्योतयति। हेति-हतिभिः किरात-रीतिः अनुमीयते, कथय किमेतत् ?' इति।

'तेजोमयः अयं मानुष-गात्र-पौरुषः नूनं न भवति' इति मत्वा स पुरुषः तद्वयस्य-मुखात् नाम-जनने विज्ञाय तस्मै निज-वृत्तान्तमकथयत्—'राजनन्दन, केचिदस्याम् अटव्याम् वेदादि-विद्याभ्यासमपहाय-निज-कुलाचारं दूरीकृत्य, सत्य-शौचादि-धर्म व्रातं परिहृत्य किल्विषमन्विष्यन्तः पुलिन्द-पुरोगमाः तदन्नमुपभुञ्जानाः बहवः ब्राह्मणब्रुवाः निवसन्ति। तेषु कस्यचित् पुत्रः, निन्दा-पात्र-चरित्रः, मातंगो नामाहम् सह किरात-बलेन जनपदं प्रविश्य ग्रामेषु धनिनः स्त्री-बाल- सहितान् आनीय-अटव्यां बन्धने निधाय तेषां सकल-धनम् अपहरत् उद्धृत्य वीतदयः व्यचरत्।

उससे संस्कृत होकर राजवाहन ने कहा—'मनुष्य, तुम मनुष्यरहित, मृगों के लायक, कठिनाई से प्रवेश योग्य इस घने विन्ध्य वन में अकेले क्यों रहते हो ? तुम्हारे कन्धों पर पड़ा जनेऊ तुम्हारे ब्राह्मणत्व को प्रकट कर रहा है किंतु घावों के चिन्हों द्वारा किरातों की रीति का अनुमान हो रहा है। बताओ यह क्या है ?'

'यह तेजस्वी पुरुष साधारण मनुष्य मात्र नहीं है'—ऐसा समझ कर उस पुरुष ने उसके (राजवाहन के) मित्र के मुख से उसका नाम तथा कहानी जानकर उसे अपनी कहानी-सुनानी प्रारम्भ की—'राजपुत्र, इस विन्ध्य वन में कई ब्राह्मण कहे जानेवाले ऐसे लोग रहते हैं—जिन्होंने वेदादि विद्याओं का पढ़ना तथा अपने कुल का आचरण और सत्य शौच-आदि धर्मानुष्ठानों को छोड़ कर पापों के पीछे चलने वाले पुलिन्दों की गुलामी स्वीकार कर ली है और जो उन्हीं का दिया अन्न भी खाते हैं। उन्हीं में से एक का पुत्र; निन्दनीय चरित्र वाला मैं मातंग नाम का ब्राह्मण हूँ। मैं किरातों की सेना के साथ गाँवों में जाकर धनियों को स्त्री-बच्चे-सहित लाकर बन्दी बना देता था और उनका सारा धन छीन लेता था। इसी प्रकार निर्दय होकर घूमा करता था।

कदाचिदेकस्मिन् कान्तारे मदीय-सहचर-गणेन जिघांस्यमानं भूसुर-मेकम् अवलोक्य दयायत्तचित्तः अब्रवम्—'ननु पापाः! न हन्तव्यो ब्राह्मणः' इति।

ते कोपारुण-नयनाः मां बहुधा निरभर्त्सयन्। तेषां भाषणपारुष्यम् असहिष्णुः अहम् अवनिसुर-रक्षणाय चिरं प्रयुध्य तैः अभिहतः गत-जीवितः अभवम्।

ततः प्रेतपुरीमुपेत्य तत्र देहधारिभिः पुरुषैः परिवेष्टितं सभा-मध्ये रत्न-खचित-सिंहासनासीनं शमनं विलोक्य तस्मै दण्ड-प्रणामम् अकर-वम्। सोऽपि मामवेक्ष्य चित्रगुप्तं नाम निजामात्यमाहूय तम् अवोचत्—'सचिव, नैषः, अमुष्य मृत्युसमयः। निन्दित-चरितोऽपि अयं महीसुर—निमित्तं गत-जीवितः अभूत्। इतः प्रभृति विगलित-कल्मषस्य अस्य पुण्य-कर्म-करणे रुचिः उदेष्यति। पापिष्ठैः अनुभूयमानम् अत्र यातना-विशेषं विलोक्य पुनरपि पूर्वशरीरम् अनेन गम्यताम्' इति।

चित्रगुप्तोऽपि तत्र-तत्र सन्तप्तेषु आयस-स्तम्भेषु बद्ध्यमानान्, अत्युष्णीकृते वितत-शरावे तैले निक्षिप्यमाणान्, लगुडैः जर्जरीकृतावय-

---

एक बार एक जंगलमें मेरे साथियोंने एक ब्राह्मण को मारना प्रारम्भ किया। मुझे दया आ गई और मैंने कहा—अरे पापियो! इस ब्राह्मण की हत्या न करो।

उन्होंने क्रोध से लाल आंखें करके मुझे बहुत डांटा। उनकी कठोर वाणी को में सह न सका और उस ब्राह्मण की रक्षा के लिए देर तक लड़ता रहा किन्तु उनकी मार से मृत्यु को प्राप्त हो गया।

इसके पश्चात् मैं यमपुरी में पहुंचा जहां शरीरधारी पुरुषों से घिरे हुए, सभाके बीच रत्नजटित सिंहासन पर बैठे हुए यमराज को देखकर मैंने उन्हे नमस्कार किया। उन्होंने भी मुझे देखकर चित्रगुप्त नाम के अपने मंत्री को बुलाकर कहा—सचिव! इसके मरने का समय अभी नहीं आया है। दुश्चरित्र होते हुए भी यह ब्राह्मण की रक्षा में मरा है अतः आज से इस पापरहित को पुण्यकर्मों के करने की रुचि उत्पन्न होगी। इसलिए पापियों द्वारा भोगी जानेवाली विशेष यम-यातनाओं को दिखा कर इसे पहले शरीर में पहुँचा दो।

चित्रगुप्त ने स्थान-स्थान पर जलते हुए, लोहे के खंभों में बँधे हुए, अत्यन्त बड़े कड़ाह के खौलते हुए तेल में डाले हुए, डंडे से टूटे-फूटे शरीर वाले

वान्, निशित-टङ्कैः परितक्ष्यमाणान् अपि दर्शयित्वा पुण्यबुद्धिमुपदिश्य माममुञ्चत्। तदेव पूर्वशरीरमहं प्राप्तः महाटवीमध्ये शीतलोपचारं रचयता महीसुरेण परिरक्ष्यमाणः शिलायां शायितः क्षणमतिष्ठम्।

तदनु विदितादन्तो मदीय-वंश-बन्धु-गणः सहसा आगत्य मन्दिरमानीय मामपक्रान्तव्रणमकरोत्। द्विजन्मा कृतज्ञः मह्यम् अक्षर-शिक्षां विधाय विविधागम-तन्त्रमाख्याय कल्मषक्षय-कारणं सदाचारमुपदिश्य ज्ञानेक्षणगम्यमानस्य शशिखण्ड-शेखरस्य पूजाविधानमभिधाय पूजां मत्कृतामङ्गीकृत्य निरगात्।

तदारभ्य अहं किरात-कृत-संसर्गं बन्धुवर्गम् उत्सृज्य सकल-लोकैकगुरुम्, इन्दु-कलावतंसं चेतसि स्मरन् अस्मिन् कानने दूरीकृत-कलङ्कः वसामि।'

और तेज आरों से चीरे जाते हुए लोगों को दिखाया और पुण्यकर्मों का उपदेश देकर मुझे छोड़ दिया। मैं उस शरीर में पुनः आ गया और मैंने देखा की उसी महान् जंगल में वही ब्राह्मण शिला पर मुझे सुलाये शीतल उपचारों से मेरी जान बचाना चाहता है। मैं थोड़ी देर ऐसी ही दशा में रहा।

इसके पश्चात् मेरे वंश के बन्धु-बान्धव मेरा समाचार पाकर तत्काल वहाँ पहुंचे और मुझे घर ले आकर मेरे घावों को अच्छा किया। उस कृतज्ञ ब्राह्मण ने मुझे लिपिज्ञान कराकर नाना प्रकार के मंत्र-तंत्र बताए और पाप को नाश करने-वाले सदाचारों का उपदेश दिया तथा ज्ञाननेत्रों से देखे जाने वाले शंकरजी की पूजा की विधि बताई और मेरे सत्कार को ग्रहण करके प्रस्थान किया!

उसी समय से किरातों के संसर्ग में रहनेवाले बान्धवों को छोड़कर सारे संसार के स्वामी चन्द्रमाधारी भगवान् शंकर का मन में स्मरण करते हुए अपने कलंक को दूर करके इस जंगल में रहता हूँ।

परोपकारः

(नागानन्दनाटकात्)

हर्षवर्धनः

(ई० ६०६–६४८)

[अयं नाटकांशः श्रीहर्षवर्धनकृतात् नागानन्दनाटकात् समुद्धृतः । गरुडः एकैकं नागं प्रतिदिनं भक्षयति स्म । एकस्मिन् दिने शङ्खचूडस्य वारः आसीत् । गरुडस्य नृशंसं व्यवहारं दृष्ट्वा खिन्नः जीमूतवाहनः गरुडाय आत्मानमेव समर्पितवान् ।]

(ततः प्रविशति आसनस्थः पुरःपतितनायको गरुडः)

(नायकः—जीमूतवाहनः)

गरुडः जन्मनः प्रभृति भुजङ्गपतीन् अश्नता नेदमाश्चर्यं मया दृष्टपूर्वम्, यदयं महासत्त्वो न केवलं न व्यथते प्रत्युत प्रहृष्ट इव किमपि दृश्यते । तथाहि —

ग्लानिर्नाधिक-पीयमान-रुधिरस्याप्यस्ति धैर्योदधे-
र्मांसोत्कर्तनजा रुजोऽपि वहतः प्रीत्या प्रसन्नं मुखम् ।
गात्रं यन्न विलुप्तमेव पुलकस्तत्र स्फुटो लक्ष्यते,
दृष्टिर्मय्युपकारिणीव निपतत्यस्यापकारिण्यपि ॥

परोपकार

(इसके पश्चात् गरुड़ आता है जिसके आगे नायक गिरा हुआ है)

गरुड—जीवन भर नागों को खाते समय मैंने पहिले कभी ऐसा आश्चर्य नहीं देखा था । यह महात्मा केवल दुःखी नहीं हो रहा है, इतना ही नहीं, बल्कि कुछ-कुछ प्रसन्न भी दिखाई पड़ रहा है । इसके अतिरिक्त—

'यह तो धैर्य का समुद्र है । यद्यपि मैंने इसका बहुत अधिक लोहू पी लिया है फिर भी इसे कष्ट नहीं है, यद्यपि मांस काटने के कारण इसके मुख पर पीड़ा है फिर भी इसका मुख प्रेमपूर्ण आनन्द से प्रसन्न है, इसका जो शरीर बचा हुआ है उस पर स्पष्ट रूप से रोमांच दिखाई पड़ रहा है और मेरे जैसे अपकारी को भी इसकी आँखें उपकारी के समान दीख रही हैं ।'

अतः कौतूहलमेव जनितमस्य अनया धैर्य-वृत्त्या। भवतु, न भक्षयाम्येव एनम्। पृच्छामि तावत् कोऽयमिति। (अपसर्पति)

नायकः (मांसोत्कर्त्तनविमुखमुपलक्ष्य)

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन्!॥

गरुडः (आत्मगतम्) आश्चर्यम्! आश्चर्यम्!! कथमस्यामप्यवस्थायाम् एवमूर्जितमभिधत्ते? (प्रकाशम्) अहो महासत्त्व!

आवर्जितं मया चञ्च्वा हृदयात् एव शोणितम्।
अनेन धैर्येण पुनस्त्वया हृदयमेव नः॥

तत् कस्त्वमिति श्रोतुमिच्छामि।

नायकः—एवं क्षुदुपतप्तो न श्रवणयोग्यस्त्वम्। कुरुष्व तावत् मम मांस-शोणितेन तृप्तिम्।

शङ्खचूडः—(सहसोपसृत्य) तार्क्ष्य! न खलु न खलु साहसमनुष्ठेयम्।

इसलिए इसकी धीरता तो कुतूहल उत्पन्न कर रही है। अस्तु, इसे खाऊँगा नहीं। अच्छा, पूछता हूँ यह कौन है। (हट जाता है)

नायक—(मांस काटने से विमुख देखकर)

'अभी मेरी धमनियों से रक्त चू रहा है और मेरे शरीर में अभी मांस भी है। इसके अतिरिक्त तुम्हें तृप्त भी नहीं देख रहा हूँ, फिर हे गरुड़, तुमने भक्षण करना क्यों बंद कर दिया?'

गरुड—(स्वागत) आश्चर्य है! आश्चर्य!! ऐसी अवस्थामें भी यह कितनी उत्साहपूर्ण बातें कर रहा है। (प्रकट) हे महाधैर्यशालिन्!

'मैंने तो अपनी चोंच से तुम्हारे हृदय के रक्त को निकाला है लेकिन तुम्हारी इस धीरता ने तो मेरा हृदय ही निकाल लिया है।'

इसलिए बताओ तुम कौन हो, मैं सुनना चाहता हूं।

नायक—इस तरह भूखे रह कर तुम्हें मेरी बात सुनना उचित नहीं। पहिले मेरे मांस और रक्त से अपनी भूख मिटा लो।

शङ्खचूड़—(अकस्मात् आकर) गरुड़! ऐसा साहस मत करो! मत करो!

नायं नागः। परित्यज एनम् । मां भक्षय अहं तव आहारार्थं प्रेषितोऽस्मि वासुकिना। (उरो ददाति)

नायकः—(शङ्खचूडं दृष्ट्वा सविषादमात्मगतम्) कष्टम् ! विफलीकृतो मनोरथः शङ्खचूडेन आगच्छता ।

गरुडः—(उभौ निरूप्य) द्वयोरेव भवतोर्वध्यचिह्नम्। कः खलु नाग इति नावगच्छामि ।

शङ्खचूडः—अस्थाने एवं भ्रान्तिः ।

आस्तां स्वस्तिक-लक्ष्य वक्षसि तनौ नालक्ष्यते कञ्चुकः,
जिह्वे जल्पत एव मे न गणिते नाम त्वया द्वे अपि ।
तिस्रस्तीव्र-विषाग्नि-धूम-पटल-व्याजिह्म-रत्नत्विषो
नैता दुःसह-शोक-शूत्कृतमरुत्स्फीताः फणाः पश्यसि ॥

गरुडः—(उभौ निरूप्य शङ्खचूडस्य फणां दृष्ट्वा च) तत् कः खलु मया व्यापादितः ?

यह नाग नहीं है। इसे छोड़ दो। मुझे खाओ ! वासुकि द्वारा तुम्हारे भोजन के लिए मैं भेजा गया हूं। (छाती खोल देता है)

नायक—(शंखचूड को देखकर शोक के साथ आप ही आप) हाय ! शंखचूड ने आकर मेरी अभिलाषा पूरी न होने दी।

गरुड़—(दोनों को देखकर) वध्य चिन्ह तुम दोनों के शरीर पर हैं अतः मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि कौन नाग है।

शंखचुड—इस प्रकार का भ्रम अनुपयुक्त है।

'छाती में लगे हुए स्वस्तिक चिन्ह को रहने भी दो (अर्थात् न भी देखो) तब भी क्या तुम्हें मेरे शरीर पर यह केंचुल नहीं दिखाई पड़ रहा है, मेरे बोलने के समय क्या तुमने मेरी दो जीभों को नहीं गिना ? तेज विषरूपी अग्नि के गाढ़े धुएँ से मलिन कान्तिवाले मणियों से युक्त और कठिन शोक से सू-सू करने के कारण वायु से फैली हुई मेरी तीनों फणाओं को भी नहीं देख रहे हो क्या ?'

गरुड़—(दोनों को देखकर फिर शंखचूड की फणा को देखकर) तो मैंने किसे घायल किया है ?

शङ्खचूडः—विद्याधर-वंश-तिलकः जीमूतवाहनः। कथमकारुणिकेन त्वया इदमनुष्ठितम् ?

गरुडः—अये, अयमसौ विद्याधर-कुमारः जीमूतवाहनः ?

मेरौ मन्दर-कन्दरासु हिमवत्सानौ महेन्द्राचले,
कैलाशस्य शिलातलेषु मलय-प्राग्भार-देशेष्वपि।
उद्देशेष्वपि तेषु तेषु बहुशो यस्य श्रुतं तन्मया,
लोकालोक-विचारि-चारण गणैरुद्गीयमानं यशः॥

सर्वथा महत्यंहःपङ्के निमग्नोऽस्मि।

नायकः—भोः फणिपते! किमेवमुद्विग्नोऽसि ?

शङ्खचूडः—किम्, अस्थानमिदमावेगस्य ?

स्वशरीरेण शरीरं तार्क्ष्यात् परिरक्षता मदीयम्।
युक्तं नेतुं भवता पातालतलादपि तलं माम्॥

गरुडः—अये, करुणार्द्र चेतसा अनेन महात्मना अस्माद् ग्रास-गोचर-पतितस्य फणिनः प्राणान् रक्षितुं स्वदेहमाहारार्थमुपनीतम्। तन्मया इदं

शंखचूड़—विद्याधर वंश के तिलक जीमूतवाहन को। अरे! निर्दय! तुमने ऐसा क्यों किया ?

गरुड़—अरे! क्या यह वही विद्याधरकुमार जीमूतवाहन है—

'जिसकी लोकालोक पर्वत पर विचरनेवाले चारणों द्वारा गाई जानेवाली कीर्त्ति को मैंने मेरु पर्वत पर, मन्दराचल की गुफाओं में, हिमालय की चोटियों पर महेन्द्र पर्वत पर, कैलास पर्वत की चट्टानों पर, मलयाचल पर बसे हुए देशों में और भिन्न-भिन्न स्थानों में सुना है ?'

मैं तो सब तरह से बहुत बड़े पापरूपी कीचड़ में फँस गया।

नायक—हे नागराज ? तुम इतने व्यग्र क्यों हो !

शंखचूड—क्या यह व्यग्रता के लिए अनुचित समय है ? (अर्थात् इस समय व्यग्र होना अनुचित नहीं, स्वाभाविक है)

'तुमने अपना शरीर देकर मेरे इस शरीर को गरुड़ से बचाया है। तो मुझ पाताल से भी नीचे नरक लोक में ले जाना तुम्हारे लिए उचित है ?'

गरुड़—अरे! इस अत्यन्त दयालु महात्माने मेरे मुंहमें कौर के समान पड़े हुए नाग के प्राणों की रक्षा के लिए अपने शरीर को ही मुझे खाने के लिए समर्पित कर

अकृत्यं कृतम् । किं बहुना बोधिसत्त्व एवायम् मया व्यापादितः । अस्य महतः पापस्य अग्निप्रवेशादृते नान्यत् प्रायश्चित्तं पश्यामि । तत् क नु खलु वह्निं समासादयामि ? (दिशः पश्यन्) अये, अमी केऽपि गृहीताग्नय इत एव आगच्छन्ति । तत् तावदेतान् प्रतिपालयामि ।

नायकः—भोः पक्षिराज, अलमनेन अध्यवसायेन, नायं प्रतीकारोऽस्य पापस्य ।

गरुडः—(जानुभ्यामवनिं गत्वा कृताञ्जलिः) कथ्यताम् ।

नायकः—प्रतिपालय क्षणमेकम् । पितरौ मे प्राप्तौ । यावदेतौ प्रणमामि ।

गरुडः—एवं क्रियताम् ।

(ततः प्रविशति पत्नीवधूसमेतो जीमूतकेतुः)

जीमूतकेतुः—(दृष्ट्वा सहर्षम्) देवि, दिष्ट्या वर्धसे । अयमसौ वत्सो जीमूतवाहनो न केवलं ध्रियते, प्रत्युत पुरः कृताञ्जलिना गरुडेन शिष्येणेव पर्युपास्यमानस्तिष्ठति ।

दिया ! यह तो मैंने बड़ा ही बुरा काम किया । अधिक क्या, मैंने तो बोधिसत्त्व (परमदयालु, बुद्ध) को ही मार डाला ! मुझे तो इस बड़े भारी पाप का प्रायश्चित्त अग्नि में प्रवेस करने के अलावा और कुछ नहीं दिखाई पड़ रहा है । परन्तु मैं आग पा भी कहाँ सकता हूँ ? (इधर-उधर देखकर) अरे ? ये आग लिए हुए कुछ लोग इधर ही आ रहे हैं । अच्छा, तो इनकी प्रतीक्षा कर लूं ।

नायक—हे पक्षिराज ! ऐसा दुस्साहस मत कीजिये । इस पाप का यह पायश्चित्त नहीं है ।

गरुड़—(हाथ जोड़े घुटनो के बल भूमि पर बैठकर) तो क्या है ? बताइये ।

नायक—क्षण भर ठहरिए । मेरे माता-पिता आए हुए हैं मैं तब तक इन्हें प्रणाम कर लूँ ।

गरुड़—ऐसा ही कीजिए ।

(इसके पश्चात् पत्नी और वधू के साथ जीमूतकेतु आते हैं)

जीमूतकेतु—(हर्ष के साथ देखकर) देवि ! तुम बड़ी भाग्यवती हो यह पुत्र जीमूतवाहन केवल जीवित ही नहीं है बल्कि सामने शिष्य की तरह हाथ जोड़कर गरुड़ इसकी सेवा कर रहा है ।

वृद्धा—महाराज! कृतार्थाऽस्मि। अक्षतशरीरस्यैव पुत्रकस्य मुखं दृष्टम्।

मलयवती—अहमार्यपुत्रं प्रेक्षमाणापि असंभावनीयमिति न प्रत्येमि।

जीमूतकेतुः—(सास्रमात्मगतम्)

विलुप्त-शेषाङ्गतया प्रयातान् निराश्रयत्वादिव कण्ठदेशम्।
प्राणांस्त्यजन्तं तनयं निरीक्ष्य कथं न पापः शतधा व्रजामि॥

मलयवती—हा आर्यपुत्र! अतिदुष्कर-कारिणी खल्वहम्, या ईदृशमार्यपुत्रं प्रेक्षमाणा अद्यापि जीवितं न परित्यजामि।

वृद्धा—(नायकस्य अङ्गानि स्पृशन्ती गरुडमुद्दिश्य) नृशंस! कथमिदानीं त्वया एतदापूर्यमाणं नवयौवनशोभं तदेवैतदवस्थं पुत्रकस्य मे शरीरं कृतं?

नायकः—अम्ब, मा मैवम्। किमनेन कृतम्? पूर्वमप्येतदीदृशमेव परमार्थतः। पश्य—

मेदोऽस्थि-मांस-मज्जासृक्संघातेऽस्मिँस्त्वचावृते।
शरीर-नाम्नि का शोभा सदा बीभत्सदर्शने॥

वृद्धा—महाराज, मैं कृतार्थ हो गई। मैंने अपने जीवित पुत्र का मुख देख लिया।

मलयवती—मैं आर्यपुत्र को देखकर भी इसे असम्भव समझकर विश्वास नहीं कर पा रही हूँ।

जीमूतकेतु—(आंसू गिराते हुए आप ही आप) 'समस्त अंगों के नष्ट हो जाने के कारण आश्रयहीन होकर मानो कण्ठ में आये प्राणों का परित्याग करते हुए पुत्र को देखकर मैं पापी सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाता?

मलयवती—हाय, आर्यपुत्र! मैं बड़ी ही पापिनी हूँ जो इस दशा में आर्यपुत्र को देखकर भी अपने प्राणों का परित्याग नहीं कर रही हूँ।

वृद्धा—(नायक के अंगों को छूती हुई गरुड़ का लक्ष्य करके) निष्ठर, नवयौवन की शोभा से पूर्ण मेरे पुत्रके शरीर की तुमने ऐसी दशा क्यों कर डाली?

नायक— माँ, ऐसा मत कहो। इसने क्या किया? वास्तव में यह शरीर पहले भी ऐसा ही था। देखो—

'चर्बी, हड्डी, मांस, मज्जा तथा रक्त के समूह, चमड़े द्वारा ऊपर से ढके हुए तथा सदा ही घृणा उत्पन्न करनेवाले इस शरीर में कहीं सुन्दरता भी हो सकती है?'

गरुडः—भो महात्मन् ! नरकानल-ज्वालावलीढमिव आत्मानं मन्यमानो दुःखं तिष्ठामि । तदुपदिश्यताम् येन मुच्येऽहमस्मादेनसः ।

नायकः—अनुजानातु मां तातः । यावदस्य पापस्य प्रतिपक्षमुपदिशामि ।

जीमूतकेतुः—एवं क्रियताम् ।

नायकः—वैनतेय, श्रूयताम् ।

गरुडः—(जानुभ्यामवनिं गत्वा, कृताञ्जलिः) आज्ञापय ।

नायकः—

नित्यं प्राणाभिघातात् प्रतिविरम कुरु प्राक्कृते चानुतापम्,
यत्नात् पुण्य-प्रवाहं समुपचिनु दिशन् सर्वसत्त्वेष्वभीतिम् ।
मग्नं येनात्र नैनः फलति परिमित-प्राणिहिंसान्तमेतद्,
दुर्गाधापारवारे लवणपलमिव क्षिप्तमन्तर्ह्रदस्य ॥

गरुडः—यदाज्ञापयति ।

अज्ञान-निद्रा-शयितो भवता प्रतिबोधितः ।
सर्व-प्राणि-वधादेष विरतोऽद्यप्रभृत्यहम् ॥

गरुड़—हे महापुरुष, मैं नरक की अग्नि की ज्वाला में जलता हुआ सा दुखी हो रहा हूँ । अतः मुझे उपदेश दीजिए जिससे मैं इस पाप से छुटकारा पा सकूँ ।

नायक—पिताजी, मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं इस पाप के प्रतिकूल उपदेश करूँ ।

जीमूतकेतु—पुत्र ऐसा ही करो ।

नायक—गरुड़, सुनो ।

गरुड़—(हाथ जोड़े घुटने टेक कर) आज्ञा दीजिए ।

नायक—प्रतिदिन प्राणियों की हिंसा करना छोड़ दो अपने पहले के पाप-कर्मों पर पश्चात्ताप करो, सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देकर प्रयत्नपूर्वक पुण्यपुञ्ज का संग्रह करो, जिससे अथाह बड़े तालाब में डाले गए नमक के एक टुकड़े की तरह परिमित प्राणियों की हिंसा से उत्पन्न यह पाप डूब जाय और बुरा फल न दे सके ।

गरुड़—आपकी जैसी आज्ञा ।

'अज्ञान-निद्रा में सोए हुए मुझको आपने जगा दिया हे अतः यह आज से मैंने सब प्राणियों की हिंसा करना छोड़ दिया ।'

नायकः—साधु, महासत्त्व, साधु, अनुमोदामहे। सर्वथा दृढ-समाधानो भव। (शङ्खचूडं निर्दिश्य) शङ्खचूड, त्वयाऽपि स्वगृहमिदानीं गम्यताम्।

शङ्खचूडः—(निःश्वस्य अधोमुखस्तिष्ठति।)

वृद्धा—(सास्रम्) धन्या खलु सा जननी या गरुडमुखपतितस्य अक्षतशरीरस्यैव पुत्रकस्य मुखं प्रेक्षिष्यते।

शङ्खचूडः—अम्ब, सत्यमेवैतत्, यदि कुमारः स्वस्थो भविष्यति।

नायकः—(वेदनां नाटयन्)अहह, परार्थसम्पादनामृतरसस्वादाक्षिप्तत्वात् एतावतीं वेलां मया न लक्षिताः, सम्प्रति तु मां बाधितुमारब्धा मर्मच्छेदिन्यो वेदनाः। (मरणावस्थां नटयति)

जीमूतकेतुः—(ससम्भ्रमम्) हा वत्स, किमेवं करोषि ?

वृद्धा—हा, किन्नु खल्वेवं वर्त्तते। (सारस्ताडम्) परित्रायध्वम्, परित्रायध्वम्। एष खलु मे पुत्रको विपद्यते।

मलयवती—हा, आर्यपुत्र ! परित्यक्तुकाम इव लक्ष्यसे।

नायक—धन्य हो महापुरुष ! धन्य हो ! हम सभी इसका समर्थन करते हैं। आप सर्वदा दृढ़ विचार वाले हो (शंखचूड़ की ओर संकेत करके) शंखचूड़ ! तुम भी अब अपने घर जाओ।

शंखचूड़—(लंबी सांस खींचकर मुँह नतमस्तक हो खड़ा रहता है)

वृद्धा—(आंसू गिराती हुई) धन्य है वह मां जो गरुड़ के मुख में पड़ कर भी जीवित बचे हुए अपने तुत्र का मुख देखेगी।

शंखचूड़—माँ, यह सत्य ही है; यदि कुमार स्वस्थ हो जायँ।

नायक—(पीड़ा का अभिनय करते हुए) अहह। दूसरे की भलाई करने रूपी अमृत रस के पान में डूबा हुआ मैं अभी तक अपनी पीड़ा की ओर ध्यान ही न दे सका। परन्तु अब मर्म को छेदनेवाली पीडाएं मुझे कष्ट देने लगी हैं। (मरने का अभिनय करता है)।

जीमूतकेतु—(हड़बड़ा कर) हाय पुत्र ! क्यों ऐसा कर रहे हो ?

वृद्धा—हाय. यह क्या हो रहा है। (छाती पीटकर) रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए। यह मेरा पुत्र मरा जा रहा है।

मलयवती—हाय ! आर्यपुत्र ! लगता है कि आप हम लोगों को छोड़ना चाहते हैं।

नायकः—(अञ्जलिं कर्त्तुमिच्छन्) शङ्खचूड ! समानय मे हस्तौ ।

शङ्खचुडः—(तथा कुर्वन्) कष्टम् ! अनाथीकृतं जगत् ।

नायकः—(अर्धोन्मीलितचक्षुः पितरौ पश्यन्) तात, अम्ब, अयं मे पश्चिमः प्रणामाञ्जलिः । अथवा किमनेन प्रलपितेन ? (इति पतति)

वृद्धा—हा पुत्र ! हा वत्स ! हा गुरु-जन-वत्सल ! क्वासि देहि मे प्रतिवचनम् ।

जीमूतकेतुः—हा वत्स जीमूतवाहन ! हा प्रणयिजन-वल्लभ ! हा सर्वगुणनिधे ! क्वासि ? देहि मे प्रतिवचनम् ।

मलयवती—हा आर्यपुत्र ! कथं परित्यज्य गतोऽसि ? अतिनिर्घृणे, मलयवति ! किं त्वया प्रेक्षितव्यम् या एतावद् वेलां जीवितासि ?

शङ्खचूडः—हा कुमार, क्व इमं प्राणेभ्योऽपि वल्लभं जनं परित्यज्य गम्यते ? तदवश्यमन्वेति त्वां शङ्खचूडः ।

गरुडः—(सोद्वेगम्) कष्टम् उपरतोऽयं महात्मा । तत् किमिदानीं करोमि ?

नायक—(हाथ जोड़ने की इच्छा करते हुए) शंखचूड़ ! मेरे हाथों को एक साथ मिला दो ।

शंखचूड़—(वैसा करता हुआ) हाय ! संसार अनाथ हो गया ।

नायक—(आधी खुली हुई आंखों से माता-पिता को देखते हुए) हे पिता, माँ, यह मेरा अन्तिम प्रणाम है । अब इस प्रलाप से क्या लाभ ! (गिर पड़ता है)

वृद्धा—हाय पुत्र ! हाय पुत्र ! हा गुरुजनों के प्यारे ! कहाँ हो ? मेरी बात का उत्तर दो ।

जीमूतकेतु—हाय पुत्र जीमूतवाहन ! हाय प्रेमियों के प्रिय ! हाय ! सब गुणों के खजाने ! कहाँ हो ? मेरी बातों का उत्तर दो।

मलयवती—हाय आर्यपुत्र ! तुम छोड़कर क्यों चले गए, अत्यन्त निष्ठुर मलयवती ! अब तू क्या देखना चाहती है जो इस अवस्था में भी जी रही है ।

शंखचूड़—हाय कुमार ! प्राणों से भी प्रिय इस प्रियजन को छोड़कर तुम कहाँ चले ? अच्छा, शंखचूड़ भी तुम्हारे पीछे अवश्य ही आ रहा है ।

गरुड़—(व्याकुलता के साथ) दुःख है ! यह महापुरुष तो चल बसा । तो अब क्या करूँ ?

वृद्धा—पुत्र शङ्खचूड ! लघु सज्जय चिताम् । दुःखमस्माभिर्विना भ्राता ते तिष्ठति ।

शङ्खचूडः—(सास्रम्) यदाज्ञापयन्ति गुरवः नन्वग्रत एवाहं युष्माकम् । (उत्थाय चिता-रचनां कृत्वा) तात, अम्ब, सज्जीकृतेयं चिता ।

जीमूतकेतुः कष्टं भोः कष्टम् । देवि, किमपरं रुद्यते, तदुत्तिष्ठ, चितामारोहामः । (सर्वे उत्तिष्ठन्ति)

मलयवती (बद्धाञ्जलिः ऊर्ध्वं पश्यन्ती) भगवति ! गौरि ! त्वया आज्ञप्तं यथा 'विद्याधर-चक्रवर्ती भर्त्ता ते भविष्यतीति ।' तत्कथं मम मन्दभाग्यायाः कृते त्वमपि अलीकवादिनी संवृत्ता ?

(ततः प्रविशति ससम्भ्रमा गौरी)

गौरी—महाराज जीमूतकेतो ! न खलु न खलु साहसमनुष्ठातव्यम् ।

जीमूतकेतुः—अये, कथममोघदर्शना गौरी !

गौरी—(मलयवतीमुद्दिश्य) वत्से, कथमहमलीक-वादिनी भवेयम् ।

(नायकमुपसृत्य कमण्डलु-जलेन अभ्युक्षन्ती)

वृद्धा—पुत्र शंखचूड़ ! शीघ्र ही चिता तैयार करो । हम लोगों के बिना तुम्हारा भाई बड़े दुःख में होगा ।

शंखचूड़—(आंसू गिराता हुआ) जैसी गुरुजनों की आज्ञा । मैं आप लोगों के सम्मुख ही हूं (उठकर चिता तैयार करके) पिता, माँ ! यह चिता तैयार हो गई ।

जीमूतकेतु—बड़ा ही कष्ट है । देवि अब क्यों रो रही हो ! उठो, हम लोग चिता पर चढ़े । (सभी उठते हैं)

मलयवती—(हाथ जोड़कर ऊपर देखती हुई) भगवति गौरि ! तुमने कहा था कि तुम्हारा पति विद्याधर चक्रवर्ती होगा । तो क्यों मेरी जैसी अभागिनी के लिए तुम भी झूठ बोलने लगीं ?

(इसके पश्चात् हड़बड़ाकर गौरी आती है)

गौरी—महाराज जीमूतकेतु ! ऐसा साहस मत कीजिये, मत कीजिए ।

जीमूतकेतु—क्या सफल-दर्शनवाली गौरी ?

गौरी—(मलयवती की ओर संकेत करके) पुत्रि ! मैं झूठ बोलनेवाली कैसे हो सकती हूँ । (नायक के पास जाकर कमंडलु के जल से सींचती हुई)

निजेन जीवितेनापि जगतामुपकारिण: ।
परितुष्टाऽस्मि ते वत्स, जीव जीमूतवाहन ! ॥

(नायकः उत्तिष्ठति)

जीमूतकेतुः—देवि ! दिष्ट्या वर्धसे । प्रत्युज्जवितो वत्सः ।

वृद्धा—भगवत्याः प्रसादेन ।

(उभौ गौर्याः पादयोः पतित्वा नायकमालिङ्गतः)

मलयवती—(सहर्षम्) दिष्ट्या प्रत्युज्जीवितः आर्यपुत्रः ।

(इति गौर्याः पादयोः पतति)

नायकः—(गौरीं दृष्ट्वा बद्धाञ्जलिः) भगवति !

अभिलषिताधिकवरदे ! प्रणिपतित जनार्त्तिहारिणि शरण्ये ! ।
चरणौ नमाम्यहं ते विद्याधर-देवते गौरि ! ॥

(इति गौर्याः पादयोः पतति)

गौरी—तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

नायकः—(जानुभ्यामवनिं गत्वा) अतः परमपि प्रियमस्ति ? तथापीदमस्तु—

'अपना जीवन देकर भी संसार का उपकार करनेवाले 'हे पुत्र जीमूतवाहन ! मैं तुमसे प्रसन्न हूं अतः जीवित हो जाओ ।' (नायक उठता है)

जीमूतकेतु—देवि ! भाग्यशालिनी हो । पुत्र पुनः जीवित हो उठा ।

वृद्धा—भगवती की कृपा से ।

[दोनों गौरी के चरणों पर गिरकर नायक को गले लगाते हैं]

मलयवती—[प्रसन्नता के साथ] भाग्य से आर्यपुत्र जी गये ।

[गौरी के चरणों पर गिर पड़ती है]

नायक—[गौरी को देखकर हाथ जोड़कर] 'इच्छाओं से भी अधिक वर देने वाली ! भक्तों के भय को दूर करनेवाली ! सबको शरण देनेवाली ! हे विद्याधरों की कुलदेवि गौरी ? मैं तुम्हारे चरणों को नमस्कार करता हूँ ।'

[गौरी के चरणों पर गिरता है]

गौरी—बताओ, मैं तुम्हारा और क्या प्रिय करूँ ?

नायक—[घुटने टेककर] क्या इससे भी अधिक प्रिय वस्तु हो सकती है ? फिर भी ऐसा हो—

शिवमस्तु सर्वजगतां परहित-निरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥
(इति सर्वे निष्क्रान्ताः)

वीर-विग्रहः

वेणीसंहारात्

भट्टनारायणः (ई० ६७५)

[अधस्तनः संवादः श्रीभट्टनारायणकृताद् वेणीसंहारनाटकाद् उद्धृतः। अयं हि वेणीसंहारस्य तृतीयाङ्काद् गृहीतः। द्रोणाचार्ये हते, तत्पुत्रः अश्वत्थामा परितप्यमानः प्रतिशोधार्थमुद्युङ्क्ते। वार्ताप्रसंगेनैव कर्णेन सह तस्य विवादः समुत्थितः। अनयोर्द्वयोः वीरयोः वीरोचितः संवादः नीचैः दीयते।]

अश्वत्थामा—राजन्, एवं पक्षपातिनि त्वयि युक्तमेव शोकभारं लघूकर्त्तुम्। किन्तु—

मयि जीवति यत्तातः केशग्रहमवाप्तवान्।
कथमन्ये करिष्यन्ति पुत्रेभ्यः पुत्रिणः स्पृहाम् ॥

कर्णः—द्रौणायने, किमत्र क्रियते, तदा तेनैव सर्वं परिभवपरित्राणहेतुकशस्त्रमुत्सृजता तादृशीमवस्थामात्मा नीतः।

'संपूर्ण संसार कल्याण हो, सभी प्राणी दूसरों की भलाई में लगे रहें, सारे दोष मिट जायँ और सभी लोग सुखी हो जायँ।'

(सब चले जाते हैं)

वीरों का कलह

अश्वत्थामा—राजन्, तुम्हारी इस प्रकार की कृपा से शोक का बोझ कम होना ठीक ही है। किन्तु—

'मेरे जीवित रहते हुए भी जो पिता ने 'बाल खींचने' का कष्ट अनुभव किया है। यदि यही स्थिति है [अर्थात् पुत्र के रहते पिता की दुर्गति हो] तो दूसरे पुत्र वाले पिता अपने पुत्रों से क्या स्नेह रखेंगे।'

कर्ण—हे द्रोणपुत्र ! जब उन्होंने सभी उपद्रवों से रक्षा करनेवाले शस्त्रों को

अश्वत्थामा—अङ्गराज! किमाह भवान्, किमत्र क्रियते इति? श्रूयतां यत् क्रियते तत्—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुज-गुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पाञ्चाल-गोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः,
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥

अपि च। भो जामदग्न्यशिष्य, कर्ण!

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः,
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः।
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे,
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः क्रोधनः॥

स्वयं ही छोड़कर अपने को उस दशा में पहुंचा दिया तो फिर हम लोग इस विषय में कर ही क्या सकते हैं।

अश्वत्थामा—अङ्गराज! (कर्ण) आपने क्या कहा—'क्या किया जाय' तो सुनिए जो करना चाहिये—

'पांडवों की सेना में जिसे अपनी भुजाओं के बल का अभिमान है और जो शस्त्र धारण करते हैं, तथा पांचालनरेश के वंश में बालक, युवा तथा गर्भस्थ जितने हैं, और जिन लोगों ने अपनी आंखों से उस कर्म को देखा है, तथा जो युद्ध में मेरे विपरीत लड़े हैं, मैं क्रोध में अन्धा होकर उन सभी व्यक्तियों और संसार के नाश करनेवाले काल का भी काल बन जाऊँगा।'

और भी—हे परशुराम के शिष्य कर्ण!

'यह वही देश है जहां के तालाब शत्रुओं के रक्त से भर चले हैं और बाल खींचना रूप मेरे पिता का यह अपमान भी क्षत्रिय जाति द्वारा ही हुआ है। मेरे पास विपरीत पक्ष के अस्त्रों को खा डालने वाले वही चमकते हुए महत्त्वशाली अस्त्र भी हैं। अतः क्रुद्ध होकर परशुराम ने जो कर डाला था वही यह द्रोणपुत्र भी करने जा रहा है। अर्थात् मैं भी परशुराम की तरह क्षत्रियों का विनाश कर डालूँगा।)

दुर्योधनः—आचार्यपुत्र ! तस्य तथाविधस्य अनन्यसाधारणस्य च ते वीरभावस्य किमन्यत् सदृशम् ?

कृपः—राजन् ! सुमहान् खलु द्रोणपुत्रेण वोढुमभ्यवसितः समरभरः। तदहमेवं मन्ये, भवता कृतपरिकरोऽयमुच्छेत्तुं लोकत्रयमपि समर्थः, किं पुनः यौधिष्ठिरबलम् । अतः अभिषिच्यतां सैनापत्ये ।

दुर्योधनः—सुष्ठु युज्यमानमभिहितं युष्माभिः । किन्तु प्राक्प्रतिपन्नः अयमर्थः अङ्गराजस्य ।

कृपः—राजन् असदृश-परिभव-शोकसागरे निमज्जन्तमेनम् अङ्ग-राजस्य अर्थेनैव उपेक्षितुं युक्तम् । अस्यापि तदेव अरिकुलमनुशासनी-यम् । अतः किमस्य पीडा न भविष्यति ?

अश्वत्थामा—राजन् ! किमद्यापि युक्तायुक्त-विचारणया ?

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसीमकम् ।

दुर्योधन—आचार्य पुत्र ! आपकी उस प्रकार की असाधारण वीरता की तुलना अन्य किस वीरता से हो सकती है ?

कृप—राजन्, अश्वत्थामा बहुत बड़े युद्ध का भार उठाने को तत्पर हैं अतः मैं समझता हूँ कि यदि आप इन्हें सेनापति बना दें तो यह तीनों लोकों का संहार करने में समर्थ हो सकते हैं, फिर युधिष्ठिर की सेना की तो बात ही क्या है ? अतः आप सेनानायक के पद पर इनका अभिषेक कर दीजिये ।

दुर्योधन—तुमने बिल्कुल ठीक और उचित कहा है । किन्तु इस कार्य के लिये कर्ण पहिले ही से निश्चित हो चुके हैं ।

कृप—राजन्, अपमान के महान् शोकसमुद्र में डूबनेवाले इस अश्वत्थामा की केवल कर्ण के लिए उपेक्षा करना उचित नहीं है । यह भी तो उन्हीं शत्रुओं को दंड देना चाहते हैं । अतः (इन्हें सेनापति न बनाने से) इन्हें क्या कष्ट न होगा ?

अश्वस्थामा—राजन् ! अब उचित अनुचित के विचार से क्या लाभ ?

राजन् ! आज रात में बंदियों और चारणों के मंगलपाठ द्वारा परिश्रमपूर्वक निद्रा भंग कराये जाने पर भी आप शयन करेंगे, आज मैं पृथ्वी को भगवान् वासुदेव, पाण्डवों और पांचाल आदि चंद्रवंशी राजाओं से रहित कर दूंगा । आज प्रचण्ड शक्तिशाली भुजाओंवाले राजाओं की युद्ध की बातें भी समाप्त हो

इयं परिसमाप्यते रणकथाऽद्य दोःशालिना–
मपैतु नृपकाननातिगुरुरद्यभारो भुवः ॥

कर्णः—(विहस्य) वक्तुं सुकरमिदं दुष्करमध्यवसितुम् । बहवः कौरव-
ले अस्य कर्मणः शक्तः ।

अश्वत्थामा—अङ्गराज ! एवमिदम्, बहवः कौरवबलेऽत्र शक्ताः ।
केन्तु दुःखोपहतः शोकावेगवशाद् ब्रवीमि, न पुनः वीरजनाधिक्षेपेण ।

कर्णः—मूढ ! दुःखितस्याश्रुपातः, कुपितस्य च आयुधद्वितीयस्य
ङ्ग्रामावतरणमुचितम्, नैवंविधाः प्रलापाः ।

अश्वत्थामा—(सक्रोधम्) अरे रे राधागर्भभारभूत ! सूतापसद !
मापि नाम अश्वत्थाम्नः दुःखितस्य अश्रुभिः प्रतिक्रियामुपदिशसि, न
स्त्रेण ? पश्य :—

निर्वीर्यं गुरुशापभाषितवशात् किं मे तवेवायुधं,
संप्रत्येव भयाद्विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा ?
जातोऽहं स्तुतिवंश-कीर्तनविदां किं सारथीनां कुले,
क्षुद्रारातिकृताप्रियं प्रतिकरोम्यस्रेण नास्त्रेण किम् ?

ँयगी तथा राजारूपी जंगलों के बोझ से लदी हुई पृथ्वी का बोझ भी आज ही
ष्ठ हो जायगा ।'

कर्ण—(हँसकर) कहना तो आसान है किन्तु करना कठिन है ! कौरवों
ी सेना में ऐसा कर्म करनेवाले बहुत वीर हैं ।

अश्वत्थामा—अंगराज ! ठीक है ! कौरव-सेना में ऐसा कार्य करने में समर्थ
हुत वीर हैं । किन्तु मैं दुखी होकर शोक की व्यग्रता में ऐसा कह रहा हूँ, न कि
ीरों का अपमान करने की भावना से ।

कर्ण—मूर्ख, जो दुखी होते हैं वे आंसू गिराते हैं । क्रुद्ध व्यक्ति तो शस्त्र के
ाथ युद्ध भूमि में उतर जाता है, इस प्रकार व्यर्थ प्रलाप नहीं करता ।

अश्वत्थामा—अरे रे ! राधा के गर्भ के भार ! सूताधम !! मुझ दुखी अश्व-
ामा को भी रोकर बदला लेनेका उपदेश दे रहा है, शस्त्रके द्वारा नहीं । देखा—

'क्या गुरुशाप के कारण तुम्हारे ही समान मेरे अस्त्र भी शक्तिहीन हो गये हैं,
या मैं इस समय तुम्हारे समान भयभीत होकर युद्ध से भागकर यहाँ आया हूँ,
या मैं भी तुम्हारे समान लोगों के वंश की प्रशंसा करनेवाले रथकारों के वंश
पैदा हुआ हूँ । मैं नीच शत्रुओं से बदला आँसू द्वारा लूँ, शस्त्र द्वारा नहीं ?'

इयं परिसमाप्यते रणकथाऽद्य दोःशालिना-
मपैतु नृपकाननातिगुरुरद्यभारो भुवः ॥

कर्णः—(विहस्य) वक्तुं सुकरमिदं दुष्करमध्यवसितुम्। बहवः कौरव-बले अस्य कर्मणः शक्तः।

अश्वत्थामा—अङ्गराज! एवमिदम्, बहवः कौरवबलेऽत्र शक्ताः। किन्तु दुःखोपहतः शोकावेगवशाद् ब्रवीमि, न पुनः वीरजनाधिक्षेपेण।

कर्णः—मूढ! दुःखितस्याश्रुपातः, कुपितस्य च आयुधद्वितीयस्य सङ्ग्रामावतरणमुचितम्, नैवंविधाः प्रलापाः।

अश्वत्थामा—(सक्रोधम्) अरे रे राधागर्भभारभूत! सूतापसद! ममापि नाम अश्वत्थाम्नः दुःखितस्य अश्रुभिः प्रतिक्रियामुपदिशसि, न शस्त्रेण? पश्य :—

निर्वीर्यं गुरुशापभाषितवशात् किं मे तवेवायुधं,
संप्रत्येव भयाद्विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा?
जातोऽहं स्तुतिवंश-कीर्तनविदां किं सारथीनां कुले,
क्षुद्रारातिकृताप्रियं प्रतिकरोम्यस्रेण नास्त्रेण किम्?

जाँयगी तथा राजारूपी जंगलों के बोझ से लदी हुई पृथ्वी का बोझ भी आज ही नष्ठ हो जायगा।'

कर्ण—(हँसकर) कहना तो आसान है किन्तु करना कठिन है! कौरवों की सेना में ऐसा कर्म करनेवाले बहुत वीर हैं।

अश्वत्थामा—अंगराज! ठीक है! कौरव-सेना में ऐसा कार्य करने में समर्थ बहुत वीर हैं। किन्तु मैं दुखी होकर शोक की व्यग्रता में ऐसा कह रहा हूँ, न कि वीरों का अपमान करने की भावना से।

कर्ण—मूर्ख, जो दुखी होते हैं वे आंसू गिराते हैं। क्रुद्ध व्यक्ति तो शस्त्र के साथ युद्ध भूमि में उतर जाता है, इस प्रकार व्यर्थ प्रलाप नहीं करता।

अश्वत्थामा—अरे रे! राधा के गर्भ के भार! सूताधम!! मुझ दुखी अश्वत्थामा को भी रोकर बदला लेनेका उपदेश दे रहा है, शस्त्रके द्वारा नहीं। देखा—

'क्या गुरुशाप के कारण तुम्हारे ही समान मेरे अस्त्र भी शक्तिहीन हो गये हैं, क्या मैं इस समय तुम्हारे समान भयभीत होकर युद्ध से भागकर यहाँ आया हूँ, क्या मैं भी तुम्हारे समान लोगों के वंश की प्रशंसा करनेवाले रथकारों के वंश में पैदा हुआ हूँ। मैं नीच शत्रुओं से बदला आँसू द्वारा लूँ, शस्त्र द्वारा नहीं?'

कर्णः—अरे रे वाचाट ! वृथाशस्त्रग्रहणादुर्विदग्ध ! बटो !

निर्वीर्यं वा सवीर्यं वा मया नोत्सृष्टमायुधम् ।
यथा पाञ्चालभीतेन पित्रा ते बहुशालिना ॥

अपि च —

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम् ॥

अश्वत्थामा—(सक्रोधम्) अरे रे रथकारकुलकलङ्क ! अरे राधागर्भभारभूत ! आयुधानभिज्ञ ! तातमप्यधिक्षिपसि ?

अथवा —

स भीरुः शूरो वा प्रथितभुजसारस्त्रिभुवने,
कृतं यत्तेनाजौ प्रतिदिनमियं वेत्ति वसुधा ।
परित्यक्तं शस्त्रं कथमिति स सत्यव्रतधरः,
पृथासूनुः साक्षी त्वमसि रणभीरो क्व नु तदा ॥

कर्णः—(विहस्य) एवं भीरुरहम् । त्वं पुनः विक्रमैकरसं स्वपितरमनु-

---

कर्ण—अरे रे बकवादी ! व्यर्थ शस्त्रों का बोझ ढोनेवाले धृष्ट ब्राह्मणकुमार! 'चाहे मैं वीर हूँ अथवा कायर, किन्तु मैंने तो अस्त्र का त्याग नहीं किया जैसा कि अत्यन्त भुजबलशाली तुम्हारे पिता ने पांचालों के भय से किया ।'

और भी—

'चाहे मैं सूत हूँ, चाहे सूतपुत्र हूँ, चाहे कोई भी हूँ । इससे क्या ? अच्छे वंश में जन्म देना तो दैव के अधीन है किन्तु शक्ति तो मेरे अधीन है । अर्थात् पुरुषार्थ करना तो मेरे हाथ है ।'

अश्वत्थामा—(क्रोध के साथ) अरे रे रथकार वंश के कलंक ! अरे राधा के गर्भ के बोझ !! शस्त्रज्ञान-विहीन !!! पिता की भी निन्दा कर रहा है। अथवा—

'वह मेरे पिता चाहे वीर हों या कायर किन्तु उनकी शक्तिशाली भुजाओं का बल संसार जान चुका है । उन्होंने नित्य युद्धभूमि में जो कुछ किया है उसे यह भूमि ही जानती है उन्होंने हथियार क्यों डाल दिए ? इसके गवाह सत्यवादी युधिष्ठिर हैं । अरे युद्ध के कायर ! उस समय तुम थे कहां ?

कर्ण—(हँसकर) बहुत अच्छा ! मैं कायर ही हूँ । किन्तु तुम बड़े पराक्रम

स्मृत्य न जाने किं करिष्यसीति ? महान्मे संशयो जातः। अपि च रे मढ!

यदि शस्त्रमुज्झितमशस्त्रपाणयो न निवारयन्ति किमरीनुदायुधान्।
यदनेन मौलिदलनेऽप्युदासितं, सुचिरं स्त्रियेव नृपचक्र-सन्निधौ॥

अश्वत्थामा—(सक्रोधं सकम्पं च) दुरात्मन्! राजवल्लभ! प्रगल्भ! सूतापसद! असम्बद्धप्रलापिन्!

कथमपि न निषिद्धो दुःखिना भीरुणा वा,
द्रुपद तनय-पाणिस्तेन पित्रा ममाद्य।
तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वामः,
शिरसि चरण एष न्यस्यते वारयैनम्॥

(इति तथा कर्तुमुत्तिष्ठति)

कृप-दुर्योधनौ–वत्स! मर्षय, मर्षय।

(अश्वत्थामा चरणप्रहारं नाटयति)

कर्णः—(सक्रोधमुत्थाय, खड्गमाकृष्य) अरे दुरात्मन्! ब्रह्मबन्धो! आत्मश्लाघिन्!

अपने पिता की याद करके पता नहीं क्या करोगे ? मुझे सन्देह होता है और हे मूर्ख, थोड़ा और भी सुन—

'यदि उन्होंने हथियार डाल दिया तो क्या बिना शस्त्र के हथियारधारी शत्रुओं को रोका नहीं जा सकता था ? किन्तु वह तो बाल खींचने पर राजाओं के बीच स्त्रियों के समान बहुत देर तक मौन हो गये।'

अश्वत्थामा—(क्रोध से काँपते हुए) दुष्ट, राजा के प्रिय. चापलूस, नीच सूत, बकवादी!

'मेरे उस पिता ने चाहे दुखी होकर अथवा कायरता से ही सही, चाहे जैसे भी हो, धृष्टद्युम्न के हाथ को (अपने ऊपर उठाते समय) नहीं रोका, किन्तु भुजाओं के अभिमान पर फूले हुए तुम्हारे सिर पर मैं आज अपना बांया पैर रख रहा हूँ, जरा इसे रोक तो!'

(ऐसा करने के लिए उठ खड़ा होता है)

कृप और दुर्योधन—पुत्र! क्षमा करो! क्षमा करो!।

(अश्वत्थामा पैर रखने का अभिनय करता है)

कर्ण—(क्रोध के साथ उठकर तथा तलवार खींचकर) अरे दुष्ट! ब्राह्मणाधम! अपनी प्रशंसा आप करनेवाले!

जात्या काममवध्योऽसि चरणं त्विदमुद्धृतम्।
अनेन लूनं खड्गेन पतितं द्रक्ष्यति क्षितौ॥

अश्वत्थामा--अरे मूढ ! जात्या काममवध्योऽहम्। इयं सा जातिः परित्यक्ता। (इति यज्ञोपवीतं छिनत्ति। पुनः सक्रोधम्) —

अद्य मिथ्या-प्रतिज्ञोऽसौ किरीटी क्रियते मया।
शस्त्रं गृहाण वा त्यक्त्वा मौलौ वा रचयाञ्जलिम्॥

(उभावपि खड्गमाकृष्य अन्योन्यं प्रहर्तुमुद्यतौ। कृपदुर्योधनौ निवारयतः)

पुत्र-स्नेहः

(उत्तररामचरितात्)

भवभूतिः

(ई०—७४०)

[अयमंशः भवभूति-कवि-विरचितात् उत्तररामचरिताद् उद्धृतः। अत्र लवकुशौ वीक्ष्य जातः रामस्य स्वाभाविकः स्नेहः वर्णितः।]

(ततः प्रविशति रामः, लवः प्रणतश्चन्द्रकेतुश्च)

'ब्राह्मण होने के कारण यद्यपि तुम्हें मारा नहीं जा सकता किन्तु इस उठे हुए पैर को इस तलवार से कटकर पृथ्वी पर गिरा हुआ देखोगे।'

अश्वत्थामा--रे मूर्ख ! यदि मैं ब्राह्मण होने के नाते नहीं मारा जा सकता हूँ तो मैंने इस जाति को छोड़ दिया।

(ऐसा कहकर जनेऊ तोड़ देता है और फिर क्रोध के साथ)

'आज मैं अर्जुन को प्रतिज्ञा से भ्रष्ट करता हूँ (अर्थात् अर्जुन ने तुम्हें मारने की प्रतिज्ञा की है किन्तु मैं ही तुम्हें 'मार डालता हूँ) । या तो हाथों में हथियार लो या शस्त्र फेंककर उन हाथों की अंजलि बाँधकर अपने मस्तक से लगाओ।'

(दोनों तलवार खींचकर एक दूसरे पर वार करने के लिये तैयार होते हैं, कृप और दुर्योधन रोकते हैं।)

पुत्रस्नेह

(इसके पश्चात् राम, लव और प्रणाम करते हुए चन्द्रकेतु आते हैं)

रामः—(पुष्पकादवतरन्)—

दिनकर-कुल-चन्द्र ! चन्द्रकेतो ! सरभसमेहि दृढं परिष्वजस्व ।
तुहिन-शकल-शीतलैस्तवाङ्गैः शममुपयातु ममापि चित्तदाहः ॥

चन्द्रकेतुः—अभिवादये ।

रामः—(उत्थाप्य सस्नेहास्रं परिष्वज्य) अपि नाम कुशलं तव दिव्यास्त्र-धर-देहस्य ?

चन्द्रकेतुः—कुशलमत्यद्भुतं किलास्य प्रियदर्शनस्य लवस्य लाभाभ्युदयेन । तद्धि ज्ञापयामि—मामिव अविशेषेण, मत्तः शिवतरेण चक्षुषा पश्यतु अमुम् महावीरप्रकाण्डं तातः ।

रामः—(लवं निरूप्य) दिष्ट्या अतिकल्याणाकृतिरयं वयस्यो वत्सस्य ।

त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः,
क्षात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोषस्य गुप्त्यै ।
सामर्थ्यानामिव समुदयः संचयो वा गुणानाम्,
आविर्भूय स्थित इव जगत्-पुण्य-निर्माण-राशिः ॥

राम—(पुष्पक विमान से उतरते हुए)

हे सूर्यवंश के चन्द्र चन्द्रकेतु ! आओ दृढ़ता के साथ शीघ्र ही मेरे गले लग जाओ । बर्फखण्ड के समान शीतल तुम्हारे अंगों से मेरे हृदय की ज्वाला शान्त तो हो ले ।'

चन्द्रकेतु—प्रणाम करता हूँ ।

राम—[उठाकर प्रेमाश्रु गिराते हुए आलिङ्गन करके] तुम्हारा दिव्यास्त्र-धारी शरीर कुशल से है न !

चन्द्रकेतु—अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण प्रिय मित्र के पाने के भाग्य से कुशल हूँ [अर्थात् भाग्य से जो प्रिय मित्र लव को अभी पा गया हूँ यही सबसे बड़ी कुशलता है] इसलिए तात ! [पिता] इस छलहीन सहसा वीर को मेरे ही समान पुत्र को विशेष प्रेमदृष्टि से देखें (अर्थात् इसके प्रति भी पुत्र-भाव रखें) ।

राम—[लव को देखकर] सौभाग्य से पुत्र चन्द्र का यह मित्र अत्यन्त गम्भीर, सुन्दर और शुभ लक्षणों से युक्त आकृतिवाला है ।

'[इसे देखने से ऐसा लगता है मानो] लोक-कल्याण के लिए इसके रूप से धनुर्वेद ने शरीर धारण कर लिया हो, अथवा वेदों की रक्षा करने के लिए

लवः—(स्वगतम्) अहो ! पुण्यानुभावदर्शनोऽयं महापुरुषः ।

आश्वासस्नेहभक्तीनामेकमालम्बनं महत् ।
प्रकृष्टस्येव धर्मस्य प्रसादो मूर्तिसंचरः ॥

आश्चर्यम्—

विरोधो विश्रान्तः, प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति, विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन् दृष्टे किमपि, परवानस्मि, यदि वा,
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥

रामः—तत् किमेकपदे एव दुःखविश्रामं ददाति उपस्नेहयति च कुतोऽपि निमित्तादन्तरात्मानम् । अथवा स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्षः इति विप्रतिषिद्धमेतत् ।

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।

क्षात्रधर्म ने ही शरीर धारण कर लिया हो, इसके रूप में समस्त पराक्रम और सद्गुण ही इकट्ठे हो गए हों अथवा संसार की सभी पवित्र रचनाओं का समूह ही यहाँ इसके रूप में प्रकट हो गया हो ।

लव—(मन ही मन) इस महापुरुष का दर्शन तो पवित्र सामर्थ्यवाला है।

'यह तो सान्त्वना, प्रेम और भक्ति के एकमात्र महान् आधार हैं और श्रेष्ठ धर्म के शरीरधारी प्रसन्न भाव हैं [अर्थात् मूर्तिमान धर्म की प्रसन्नता है] ।'

आश्चर्य है—

'[इन्हें देख कर तो] मेरी शत्रु भावना शांत हो चुकी है, मुझमें अत्यधिक आनंद की रसधारा फैल रही है, मेरी धृष्टता कहीं चली-सी जा रही है, नम्रता मुझे झुकाती जा रही है, इनको देखते ही सहसा मैं इनके अधीन हो गया हूँ, अथवा महान् तीर्थों के समान महान् लोगों में कोई विशेष उत्कर्ष होता ही है ।'

राम—इसने तो मेरे दुःखों को सहसा ही शान्त कर दिया है और पता नहीं क्यों मेरी अन्तरात्मा को प्रेममय कर दे रहा है । अथवा प्रेम किसी कारण से होता है, यह बात ही उल्टी है ।

'दो पदार्थों के भीतर रहनेवाला अदृश्य कारण ही दोनों को मिलानेवाला

विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥

लवः—चन्द्रकेतो ! के एते ?

चन्द्रकेतुः—प्रियवयस्य ! ननु तातपादा एते ।

लवः—ममापि तर्हि धर्मतस्तथैव, यतः प्रियवयस्य इत्यात्थ । किन्तु चत्वारः खलु भवतामेवं व्यपदेशभागिनः तत्रभवन्तो रामायण–कथा–पुरुषाः, तद्विशेषं ब्रूहि ।

चन्द्रकेतुः—ननु ज्येष्ठ–तातपादा इति अवेहि ।

लवः—(सोल्लासम्) कथं रघुनाथ एषः ? दिष्ट्या सुप्रभातमद्य, यदयं देवो दृष्टः (सविनयकौतुकं निर्वर्ण्य) तात ! प्राचेतसान्तेवासी लवोऽभिवाद्यते ।

रामः—(सस्नेहम्) आयुष्मन् ! एहि एहि (सस्नेहं परिष्वज्य) अयि वत्स ! कृतं कृतमतिविनयेन, अनेकवारमपरिश्लथं परिष्वजस्व ।

होता है क्योंकि प्रेम बाहरी कारणों का सहारा नहीं लेता । देखो सूर्य का उदय होने पर श्वेत कमल खिलता है और चन्द्रका उदय होने पर चन्द्रकान्त मणि पिघलती है ।

लव—चन्द्रकेतु, ये कौन हैं ?

चन्द्रकेतु—प्रिय मित्र ! ये पूज्य पिताजी हैं ।

लव—तब तो धर्म से मेरे भी पिता हैं क्योंकि तुमने मुझे प्रियमित्र कहा है । किन्तु तुमसे पिता कहे जाने योग्य रामायण कथा के चार नायक हैं अतः विशेष परिचय दो ।

चन्द्रकेतु—इन्हें तुम जेठे पिताजी समझो ।

लव—(उमंग के साथ) क्या यही रघुनाथ हैं ? भाग्य से आज यह मेरे जीवन का प्रातःकाल है, जो इनके दर्शन हुए, अर्थात् आज से मेरे भाग्य का उदय हो गया । (विनम्रतापूर्ण कुतूहल के साथ देखकर) तात ! महर्षि वाल्मीकि का शिष्य लव आपको प्रणाम करता है ।

राम—[प्रेमपूर्वक] चिरञ्जीव ! आओ, आओ [प्रेमपूर्वक आलिंगन करके] पुत्र ! अत्यन्त विनम्रता दिखाने की आवश्यकता नहीं । कई बार दृढ़ता के साथ मेरे गले लगो ।

परिणतकठोरपुष्करगर्भच्छदपीनमसृणसुकुमारः ।
नन्दयति चन्द्रचन्दन-निष्यन्दजडस्तव स्पर्शः ॥

लवः—(स्वगतम्) ईदृशोऽस्मादृशान् प्रति अमीषामकारणस्नेहः, मया पुनरेभ्य एव अभिद्रुग्धमज्ञेन; यदायुधपरिग्रहं यावत् अत्यारूढो दुर्योगः । (प्रकाशम्) मृष्यन्तु इदानीं लवस्य बालिशतां तातपादाः ।

रामः—किमपराद्धं वत्सेन ?

चन्द्रकेतुः—अश्वानुयात्रिकेभ्यः तातप्रतापाविष्करणमुपश्रुत्य वीरायितमनेन ।

रामः—ननु अयमलङ्कारः क्षत्रस्य ।

न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां प्रसहते,
स तस्य स्वो भावः प्रकृति-नियतत्वादकृतकः ।
मयूखैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः,
किमाग्नेयग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति ॥

चन्द्रकेतुः—तात ! अमर्षोऽप्यस्य शोभते वीरस्य । पश्यतु हि तातः

'पके हुए कठोर कमल-गट्टों के समान पुष्ट, चिकना और कोमल तथा चन्द्रमा और चन्दन के समान शीतल यह तुम्हारा स्पर्श मुझे अत्यन्त आनन्दित कर रहा है ।'

लव—[अपने आप] इनका मेरे जैसे के प्रति भी इतना अकारण स्नेह है । और मेरे जैसे मूर्ख ने इन्हीं से द्रोह करने के लिये शस्त्र भी उठा लिया । [सुना कर] तात ! अब आप मेरी मूर्खता को क्षमा कर दें ।

राम—पुत्र, तुमने क्या अपराध किया है ?

चन्द्रकेतु—घोड़े के पीछे जानेवालों द्वारा आपके प्रताप का वर्णन सुनकर इन्होंने अपनी वीरता जो दिखाई है ।

राम—यह तो क्षत्रिय का आभूषण है ।

'तेजस्वी व्यक्ति दूसरों के फैले हुए तेज को सहन नहीं कर पाता है यह उसका स्वभाव है इसलिए प्रकृति की प्रेरणा से उसका ऐसा करना स्वाभाविक है । देखो [यदि ऐसा न होता तो] निरन्तर अपनी किरणों द्वारा तपते हुए सूर्य को देखकर अपमानित सा होकर सूर्यकान्त मणि क्यों आग उगलता ?'

चन्द्रकेतु—तात ! इस वीर का क्रोध भी बड़ा सुन्दर लगता है । देखिए, इन

प्रियवयस्यविनियुक्तजृम्भकास्त्र-निष्कम्पैः स्तम्भितानि सर्वतः सैन्यानि ।

रामः—(विलोक्य) वत्स लव ! संह्रियन्तामस्त्राणि । त्वमपि चन्द्र-केतो, निर्व्यापार-विलक्षितानि सान्त्वय बलानि ।

लवः—यथा आज्ञापयति तातः । (इति प्रणिधानं नाटयति)

चन्द्रकेतुः—यथादिष्टम् । (इति निष्कान्तः)

लवः—प्रशान्तमस्त्रम् ।

रामः—वत्स ! सरहस्य-प्रयोग-संहरणानि अस्त्राणि आम्नायवन्ति ।

ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा परःसहस्रं शरदस्तपांसि ।
एतान्यपश्यन् गुरवः पुराणाः स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥

अथ एतद् मन्त्रपारायणोपनिषदं भगवान् कृशाश्वः परःसहस्राधि-कवत्सरान्तेवासिने कौशिकाय विश्वामित्राय प्रोवाच । स तु भगवान् मह्यमित्येष तु पूर्वानुक्रमः । कुमारस्य पुनः कुतः सम्प्रदाय इति पृच्छामि ?

प्रियमित्र द्वारा छोड़े गये जृम्भकास्त्र से सारी सेना स्तम्भित और क्रियाहीन बन गई है ।

राम—(देखकर) पुत्र लव ! अस्त्र का निवारण कर दो । और चन्द्रकेतु ! तुम क्रियाहीन होने से स्तब्ध सेना को आश्वासन दो ।

लव—तात की जैसी आज्ञा ! (ऐसा कहकर लव ध्यानमग्न होने का अभिनय करता है ।) ।

चन्द्रकेतु—जैसी आज्ञा । (चला जाता है)

लव—तात ! अस्त्र शान्त हो गया ।

राम—पुत्र ! प्रयोग और निवारण किए जानेवाले रहस्यपूर्ण अस्त्र-परम्परा-गत होते हैं । (अर्थात् गुरु परम्परा से मिलते हैं)

'ब्रह्मा आदि प्राचीन आचार्यों ने हजारों वर्षों से भी अधिक तपस्या करके वेद और ब्राह्मणों के हित के लिए अपने ही तपोमय तेज को इन्हीं अस्त्रों के रूप में देखा था ।'

इस अस्त्ररूप ब्रह्मविद्या को भगवान् कृशाश्व ने हजारों से अधिक वर्षों तक छात्र बनकर सेवा करनेवाले विश्वामित्र को बताया था और उन भगवान् विश्वा-मित्र ने मुझे बताया था । यह तो पहिले की परम्परा है । कुमार को (तुमको) यह कहां से प्राप्त हुआ यह जानना चाहता हूँ ।

लवः—स्वतःप्रकाशानि आवयोरस्त्राणि ।

रामः—(विचिन्त्य) प्रकृष्ट-पुण्य-परिपाकोपादानः कोऽपि महिमा स्यात्; द्विवचनन्तु कथम् ?

लवः—भ्रातरौ आवां यमजौ ।

रामः—स तर्हि द्वितीयः कः ?

लवः—अयमसौ मम ज्यायान् आर्यः कुशो नाम भरताश्रमात् प्रतिनिवृत्तः ।

रामः—(सकौतुकम्) वत्स ! इत एवाह्वय एनमपि आयुष्मन्तम् ।

(ततः प्रविशति कुशः)

ब्रह्म एव जगतः कारणम्

(शङ्कराचार्यः)

(ई०-७८८-८२०)

[अयमंशः शङ्कराचार्य-विरचिताद् ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यस्य द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादस्य अष्टमाधिकरणाद् उद्धृतः । अत्र वेदान्तानां मतं 'ब्रह्म एव जगतः कारणम्' इति पूर्वोत्तरपक्षाभ्याँ स्थाप्यते 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि'-इति सूत्रस्थमिदं भाष्यम् ।]

चेतनं ब्रह्म एकम् अद्वितीयं जगतः कारणमिति यद् उक्तं तन्न उप-

लव—हम दोनों में ये अस्त्र आप से आप आ गए हैं ।

राम—(सोचकर) श्रेष्ठ पुण्य के फल की कोई महिमा होगी (अर्थात् उत्तम पुण्यों के फलस्वरूप ही ऐसा हुआ होगा) ! द्विवचन का (अर्थात् हम दोनों का) प्रयोग क्यों कर रहे हो ?

लब—हम दोनों जुड़वाँ भाई हैं ।

राम—तो वह दूसरा कौन है ?

लव—ये मेरे बड़े भाई कुश हैं जो भरत के आश्रम से लौट रहे हैं ।

राम—(उत्कंठा से) पुत्र इस चिरञ्जीवी को भी इधर ही बुलाओ ।

(कुश आते हैं)

ब्रह्म ही जगत् का कारण है

चेतन ब्रह्म एक, अद्वितीय और जगत् का कारण है, ऐसा जो कहा है वह सिद्ध

पद्यते ! कस्मात् ? उपसंहार–दर्शनात् । इह हि लोके कुलालादयः घट-पटादीनां कर्त्तारः मृद्–दण्ड–चक्र–सूत्रादि–अनेक–कारक-साधनोपसंहारेण संगृहीत–साधनाः सन्तः तत् तत् कार्यं कुर्वाणाः दृश्यन्ते । ब्रह्म च असहायं तव अभिप्रेतम् । तस्य साधनान्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वम् उपपद्येत ? तस्माद् न ब्रह्म जगतः कारणमिति चेत्; नैव दोषः । यतः क्षीरवद् द्रव्य–स्वभाव–विशेषाद् उपपद्यते । यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधि-हिम-भावेन परिणमते अनपेक्ष्य बाह्यं साधनम् तथा इहापि भविष्यति । ननु क्षीरादि अपि दध्यादिभावेन परिणममानम् अपेक्षते एव बाह्यं साधनम् औष्ण्यादिकं कथमुच्यते क्षीरवत् हीति ? नैष दोषः । स्वयमपि हि क्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावति एव त्वर्यते तु औष्ण्यादिना दधिभावाय । यदि च स्वयं दधिभावशीलता न स्यात् नैव औष्ण्यादिनापि बलाद् दधिभावम् आपद्येत । नहि वायुः

नहीं होता । कैसे सिद्ध नहीं होता ? इसलिए कि उपसंहार दिखाई पड़ता है । इस संसार में घड़ा और वस्त्र बनानेवाले कुम्हार आदि मिट्टी, डण्डा, चक्का, डोरा आदि अनेक प्रकार के कारक साधनों के सम्मेलन से साधन सम्पन्न होकर उन-उन कार्यों को करते हुए दिखाई देते हैं । किन्तु तुम्हारे मत से ब्रह्म तो असहाय (साधनरहित) है । ऐसी स्थिति में अन्य साधनों के संग्रह के बिना वह सृष्टि करनेवाला है यह कैसे सिद्ध हो सकता है । इसलिए ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है यदि ऐसा कहते हो तो यह (कारक कारण का अभाव) कोई दोष नहीं है । क्योंकि दूध के समान द्रव्य के स्वभाव विशेष से सिद्ध होगा । जैसे संसार में दूध या जल बाहरी साधनों के बिना ही अपने आप दही और बरफ के रूप में बदल जाता है वैसे यहाँ भी होगा (अर्थात् ब्रह्म भी बाह्य कारणों के अभाव में स्वयं जगत् के रूप में बदल जाता है) । किन्तु दूध आदि भी दही आदि रूप में परिणत होने के लिए गर्मी आदि बाहरी साधनों की अपेक्षा रखते ही हैं इसलिए दूध के समान क्यों कहा है (यदि ऐसा कहते हो) तो इसमें कोई दोष नहीं क्योंकि दूध अपने आप जिस रूप में और जितने रूपों में बदलता है, गर्मी आदि साधनों से भी उसी और उतने ही रूपों में बदलता है । हाँ, उन साधनों से दही बनाने में शीघ्रता की जाती है । यदि उसका अपने आप दही बन जाने का स्वभाव न हो तो जबरदस्ती वह गर्मी आदि साधनों से दही नहीं बन सकता । देखो, वायु अथवा आकाश जबरदस्ती गर्मी द्वारा दही के रूप में नहीं बदले जा

आकाशो वा औष्ण्यादिना बलाद् दधिभावमापद्यते। साधन-सामग्र्या च तस्य पूर्णता सम्पाद्यते परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म। न तस्य अन्येन केनचित् पूर्णता सम्पादयितव्या। श्रुतिश्च भवति —

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते,
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥' इति।

तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणः विचित्र-शक्ति-योगात् क्षीरादिवद् विचित्रः परिणामः उपपद्यते।

स्यादेतत्—उपपद्यते क्षीरादीनामचेतनानाम् अनपेक्ष्यापि बाह्यं साधनं दध्यादिभावः। दृष्टत्वात्। चेतनाः पुनः कुलालादयः साधन-सामग्रीम् अपेक्ष्यैव तस्मै तस्मै कार्याय प्रवर्तमानाः दृश्यन्ते। कथं ब्रह्म-चेतनं सद् असहायं प्रवर्तेत इति? देवादिवत् इति ब्रूमः। यथा लोके देवाः, ऋषयः इत्येवमादयो महाप्रभावाः चेतनाः अपि सन्तः अनपेक्ष्यैव किञ्चिद् बाह्यं साधनम् ऐश्वर्य-विशेष-योगाद् अभिध्यानमात्रेण स्वत एव

सकते। साधन-सामग्री से उसकी पूर्णता होती है किन्तु ब्रह्म तो परिपूर्ण शक्ति वाला है उसकी संपूर्णता अन्य किसी बाहरी साधनों से नहीं होती। वेदों में भी कहा गया है--

उस ब्रह्म का न तो कार्य है, न तो कारण, न तो उसके समान कोई है न उससे अधिक। उसकी शक्ति महान् और अनेक प्रकार की है और उसकी ज्ञान तथा बलक्रियाएँ स्वाभाविक हैं।'

इसलिए एक ही ब्रह्म का विचित्र शक्तियों के योग से दूध आदि के समान विचित्र परिणाम होता है।

ठीक है। दूध आदि अचेतन पदार्थ बाहरी साधनों के बिना ही दही आदि के रूप में बदल सकते हैं, क्योंकि ऐसा देखा गया है, परन्तु चेतन कुम्हार आदि साधन-सामग्री को लेकर ही उन-उन कार्यों को करते दिखाई पड़ते हैं। तो ब्रह्म चेतन होकर साधन-सामग्री के बिना कैसे कर सकता है? मैं कहता हूँ कि देवताओं के समान। जैसे संसार में देवता और ऋषि आदि महाप्रभाव चेतन होते हुए भी बिना किसी बाहरी साधन अपनी विशेष ऐश्वर्य-शक्ति से केवल

बहूनि नानासंख्यानानि शरीराणि, प्रासादादीनि रथादीनि च निर्मिमाणाः उपलभ्यन्ते, मन्त्रार्थवादेतिहास-पुराण-प्रामाण्यात् । तन्तुनाभश्च स्वत एव तन्तून् सृजति, बलाका च अन्तरेणैव शुक्रं गर्भं धत्ते, पद्मिनी च अनपेक्ष्य किञ्चित् प्रस्थान-साधनं सरोन्तरात् सरोन्तरं प्रतिष्ठते, एवं चेतनमपि ब्रह्म अनपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वत एव जगत् स्रक्ष्यति । यदि ब्रूयात्-य एते देवादयो ब्रह्मणः दृष्टान्ता उपात्ताः ते दार्ष्टान्तिकेन ब्रह्मणा न समानाः भवन्ति; शरीरमेव ह्यचेतनं देवादीनां शरीरान्तरादिविभूत्युत्पादने उपादानं न तु चेतनः आत्मा, तन्तुनाभस्य च क्षुद्रतर-जन्तु-भक्षणात् लाला कठिनताम् आपद्यमाना तन्तुः भवति, बलाका च स्तनयित्नु-रव-श्रवणाद् गर्भं धत्ते, पद्मिनी च चेतन-प्रयुक्ता सती अचेतनेनैव शरीरेण सरोन्तरात् सरोन्तरम् उपसर्पति, वल्लीव वृक्षं, न तु स्वयमेव अचेतना सरोन्तरोपसर्पणे व्याप्रियते । तस्मान्नैते ब्रह्मणो दृष्टान्ताः-इति तं प्रति ब्रूयात्, नायं दोषः । कुलालादि-दृष्टान्त-वैलक्षण्य-मात्रस्य

संकल्पमात्र से अपने आप बहुत से नाना प्रकार के असंख्य शरीर, महल और रथ आदि का निर्माण करते हुए पाए जाते हैं । ऐसा मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराणों से प्रमाणित है । मकड़ी अपने आप ही (बिना किसी साधन के) जाला बनाती है, बगुली वीर्य के बिना ही गर्भ धारण करती है, कमल की लता बिना किसी जाने के साधन से ही एक तालाब से दूसरे तालाब में जाती है, इसी प्रकार चेतन ब्रह्म भी बाहरी साधनों के बिना ही स्वयम् संसार की सृष्टि करेगा । यदि ऐसा कहा जाय कि यह देवता आदि जो ब्रह्म के दृष्टान्त रूप में उपस्थित किए गए हैं वे दार्ष्टान्तिक (जिसके लिए दृष्टान्त दिया गया हो) ब्रह्म के समान नहीं हैं । क्योंकि देवता आदि का अचेतन शरीर ही अन्य शरीर आदि विभूति उत्पन्न करने में उपादान कारण होता है न कि चेतन आत्मा । क्षुद्र जन्तुओं के खाने से मकड़ी की लार ही कठोर होकर तन्तु बन जाती है । बगुली बादल का गर्जन सुनकर गर्व धारण करती है । कमललता भी चेतन से प्रयुक्त होकर अचेतन शरीर से एक तालाब से दूसरे ताशाब में जाती है जैसे लता एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाती है न कि वह स्वयं अचेतन ही दूसरे तालाब में जाने का कार्य करती है । इसलिए ये ब्रह्म के दृष्टान्त नही हैं-ऐसा कहने वालों से कहना चाहिये कि इसमें दोष नहीं है । क्योंकि कुलाल आदि दृष्टान्तों में केवल विलक्षणता दिखाना ही उद्देश्य है । जैसे

विवक्षितत्वात् इति। यथा हि कुलालादीनां देवादीनां च समाने चेतनत्वे कुलालादयः कार्यारम्भे बाह्यं साधनमपेक्षन्ते, न देवादयः, यथा ब्रह्म चेतनमपि न बाह्यं साधनमपेक्षिष्यते इत्येतावद् वयं देवाद्युदाहरणेन विवक्ष्यामः। तस्मात् यथा एकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुमर्हति।

कृतक-कलहः

(मुद्राराक्षसात्)

विशाखदत्तः

(ई०—८५०)

[अत्र उद्धृते संवादे चाणक्य-चन्द्रगुप्तयोः कृतकः कलहः राजनीतिपूर्णः वर्णितोऽस्ति।]

राजा—आर्य ! कस्माद्विक्रम्य न गृहीतः ?

चाणक्यः—वृषल ! राक्षसः खलु असौ विक्रम्य निगृह्यमाणः स्वयं वा विनश्येत्, युष्मद्बलानि वा विनाशयेत्। एवं सति उभयथाऽपि दोषः।

कुम्हार आदि और देवता आदि में चेतनत्व समान है तो भी कुम्हार आदि कार्य आरम्भ करने में बाहरी साधनों की अपेक्षा रखते हैं, देवता आदि नहीं रखते। उसी प्रकार ब्रह्म चेतन होते हुए भी बाहरी साधनों की अपेक्षा नहीं करेगा। हम देवता आदि उदाहरणों से केवल इतना ही कहना चाहते हैं। इसलिए जैसी एक की शक्ति है वैसी सबकी होनी चाहिये (यह कोई नियम नहीं है)।

बनावटी झगड़ा

राजा—आर्य ! उसे बलपूर्वक क्यों नहीं पकड़ लिया गया ?

चाणक्य—वृषल ! यदि राक्षस को बलपूर्वक पकड़ा जाता तो वह स्वयं आत्मघात कर लेता अथवा तुम्हारी सेना का विनाश कर डालता। ऐसा होने पर दोनों दशा में हानि ही होती।

राजा—न शक्नुमो वयमार्यस्य वाचा वाचमतिशयितुं, सर्वथा अमात्यराक्षस एव प्रशस्यतरः।

चाणक्यः—(सक्रोधम्) न भवानिति वाक्यशेषः। मा तावत् एवम्। भो वृषल ! तेन किं कृतम् ?

राजा—यदि न ज्ञायते, तदा श्रूयताम्। तेन खलु महात्मना—

लब्धायां पुरि तावदिच्छमुषितं, कृत्वा पदं नो गले,
व्याघातो जयघोषणादिषु बलादस्मद्बलानां कृतः।
अत्यर्थं विपुलैः सुनीतिविभवैः सम्मोहमापादिता,
विश्वास्येष्वपि विश्वसन्ति मतयो न स्वेषु वर्गेषु नः॥

चाणक्यः—(विहस्य) वृषल ! एतत् कृतम् राक्षसेन ?

राजा—अथ किम् ? एतत् कृतम् अमात्यराक्षसेन ?

चाणक्यः—वृषल ! मया पुनः ज्ञातं नन्दमिव भवन्तमुद्धृत्य भवानिव भूतले मलयकेतुः अधिराज्यम् आरोपितः।

राज—मैं आपकी बातों का प्रत्युत्तर देने में समर्थ तो नहीं हूँ, किन्तु अमात्य ! राक्षस सभी प्रकार से प्रशंसनीय हैं।

चाणक्य—(क्रोध के साथ) 'न कि आप हैं' इस प्रकार वाक्य पूरा क्यों नहीं करते। ऐसा मत बको। वृषल ! उसने किया ही क्या है ?

राजा—यदि आप नहीं जानते तो सुनिए—उस महापुरुष ने—

'पाटलिपुत्र नगर पर हम लोगों का अधिकार हो जाने पर भी जब तक वह चाहता रहा तब तक हम लोगों का गला दबाकर रहता रहा। उसने अपने पराक्रम से मेरी सेनाओं की जयघोषणा में कई बार विघ्न उपस्थित किया, उसने अपनी अत्यधिक नीति की चतुराई से हम लोगों को इतना मूर्ख बना दिया है कि हम लोग अपने वर्ग के विश्वासपात्र लोगों का भी विश्वास नहीं कर पाते हैं।'

चाणक्य—(हँसकर) वृषल ! यह राक्षस ने किया है ?

राजा—हाँ, हाँ, अमात्य (मन्त्री) ! राक्षस ने किया है।

चाणक्य—वृषल ! मैंने खूब समझ लिया कि नन्द के समान तुम्हें सिंहासन से उतारकर तुम्हारे समान मलयकेतु को राज्य पर स्थित कर देना चाहिये।

राजा—अलमुपालम्भेन ! आर्य ! दैवेन इदम् अनुष्ठितम्। किम् अत्र आर्यस्य ?

चाणक्यः—आः केन ?

राजा—नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेन ।

चाणक्यः—दैवम् अविद्वांसः प्रमाणयन्ति ।

राजा—विद्वांसः अविकत्थना भवन्ति ।

चाणक्यः—(क्रोधं नाटयन्) वृषल ! वृषल !! भृत्यमिव मामारोढु-मिच्छसि !

राजा—(सावेगं स्वगतम्) अये ! तत् कथं सत्यमेव कुपितः आर्यः ?

चाणक्यः—(कृतकं कोपं संहृत्य) वृषल ! वृषल !! अलम् उत्तरोत्तरेण। यदि अस्मत्तो वरीयान् राक्षसोऽवगम्यते, तस्माद् इदं शस्त्रं तस्मै दीयताम्। (शस्त्रमुत्सृज्य, उत्थाय च प्रत्यक्षवत् आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा स्वगतम्) राक्षस ! राक्षस !! एष एव भवतःकौटिल्य-बुद्धिः) विजिगीषोः बुद्धेः प्रकर्षः।

राजा—इस उलाहने से क्या लाभ ? आर्य ! यह सब तो दैव ने किया। इसमें आपकी क्या शक्ति है ?

चाणक्य—अरे ! किसने किया ?

राजा—नन्द-कुल के शत्रु दैव ने ।

चाणक्य—मूर्ख ही दैव की दुहाई देते हैं ।

राजा—विद्वान् अपने मुंह अपनी बड़ाई नहीं करते ।

चाणक्य—(क्रोध का अभिनय करते हुए) वृषल ! वृषल !! नौकर के समान मुझे दबाना चाहते हो ?

राजा—(व्याकुलता के साथ अपने आप) अरे ! तो क्या आर्य सचमुच क्रुद्ध हो गये है ?

चाणक्य—(बनावटी क्रोध को रोककर) वृषल ! वृषल !! विवाद समाप्त करो। यदि तुम राक्षस को मुझ से श्रेष्ठ समझते हो तो यह शस्त्र उसे दे दो। (हथियार फेंककर, उठकर, प्रत्यक्ष के समान आकाश की ओर लक्ष्य करके अपने आप) राक्षस ! राक्षस !! चाणक्य की बुद्धि को जीतने की इच्छा रखने वाली तुम्हारी बुद्धि की यही सीमा है ?

राजा—आर्य ! वैहीनरे ! अद्यप्रभृति अनादृत्य चाणक्यं चन्द्रगुप्तः स्वयमेव राज्यकार्याणि करिष्यति इति गृहीतार्थाः प्रकृतयः क्रियन्ताम् ।

कञ्चुकी—(स्वगतम्) कथं निरुपपद एव चाणक्यो न आर्यचाणक्य इति ? हन्त, सत्यमेव हतोऽधिकारः ।

राजा—आर्य किं विचारयसि ?

कञ्चुकी—देव ! न किञ्चिद् विचारयामि, किन्तु एतद् विज्ञापयामि, दिष्ट्या देवः इदानीं देवः संवृत्तः इति ।

राजा—(आत्मगतम्) एवमस्मासु गृह्यमाणेषु स्वकार्यसिद्धिकामः, सकामो भवतु आर्यः । (प्रकाशम्) शोणोत्तरे ! अनेन शुष्ककलहेन शिरोवेदना मां बाधते, तत् शयनगृहमादेशय ।

प्रतीहारी—एतु एतु महाराजः ।

राजा—(आसनात् उत्थाय आत्मगतम्)

आर्याज्ञयैव मम लङ्घितगौरवस्य,
बुद्धिः प्रवेष्टुमवनेर्विवरं प्रवृत्ता ।

राजा—आर्य वैहीनरे ! 'आज से चन्द्रगुप्त चाणक्य को अधिकार वंचित करके स्वयं ही राज्य का कार्य करेगा ।' इस बात की जानकारी प्रजा को करा दो ।

कञ्चुकी—(अपने आप) 'आर्य' शब्दरहित चाणक्य कह रहे हैं आर्य चाणक्य नहीं ? क्या सचमुच अधिकार छीन लिया ।

राजा—आर्य ! सोच क्या रहे हैं ?

कंचुकी—देव ! कुछ भी नहीं सोच रहा हूँ, हाँ यह कह रहा हूँ कि भाग्य से महाराज आज ही महाराज हुए हैं ।

राजा—(अपने आप) जब हमलोगों में भी लोगों ने ऐसा समझ लिया तो अपने कार्य की सिद्धि चाहने वाले आर्य अवश्य सफल होंगे । (सुनाकर) शोणोत्तरे, इस सूखे झगड़े से मेरा सिर दुखने लगा है । इसलिए शयनगृह का रास्ता बताओ ।

प्रतीहारी—आइए, आइए महाराज !

राजा—(आसन से उठकर अपने आप)

'यद्यपि मैंने आर्य की आज्ञा से ही गौरव का उल्लंघन किया है फिर भी मुझे

ये सत्यमेव न गुरुन् प्रति मानयन्ति,
तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा ?



लुब्ध-पान्थ-कथा

(हितोपदेशात्)

श्रीनारायणः

(ई०-१० म शताब्दी)

दक्षिणारण्ये एको वृद्धः व्याघ्रः स्नातः कुशहस्तः कदाचित् सरस्तीरे ब्रूते—भो भोः पान्थाः, इदं सुवर्ण-कङ्कणं गृह्यताम्। ततो लोभाकृष्टेन केनचित् पान्थेन आलोचितम्—भाग्येन एतत् सम्भवति। किन्तु अस्मिन् आत्म-सन्देहे प्रवृत्तिर्न विधेया। यतः—

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा।
यत्रास्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे॥

किन्तु सर्वत्रार्थार्जने प्रवृत्तिः सन्देहे एव। तथा चोक्तम्—

लज्जा से पृथ्वी में प्रविष्ट हो जाने की इच्छा हो रही है। सचमुच ही जो अपने गुरुओं का अपमान करते हैं, उनका हृदय लज्जा से फट क्यों नहीं जाता।'

लालची राही की कहानी

दक्षिण के जंगल में किसी समय तालाब के किनारे एक बुड्ढे बाघ ने स्नान करके हाथ में कुछ लेकर कहा—हे राहियो इस सोने के कङ्गन का दान लो। यह सुनकर एक लोभ में पड़े हुए राही ने सोचा—भाग्य ही से ऐसा लाभ होता है। किन्तु इसके लेने में मृत्यु का सन्देह है अतः इसमें रुचि नहीं करनी चाहिए। क्योंकि—

'अनिष्ट से इच्छित वस्तु का लाभ होने पर भी उसका फल कल्याणकारक नहीं होता। विष से मिला हुआ अमृत भी मृत्यु देने वाला ही होता है।'

किन्तु धन पैदा करने में तो सभी स्थानों में सन्देह होता है। जैसा कहा भी है—

'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥'

तन्निरूपयामि तावत् । प्रकाशं ब्रूते—कुत्र तव कङ्कणम् ? व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति ।

पान्थोऽवदत्—कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः ?

व्याघ्र उवाच—शृणु रे पान्थ ! प्रागेव यौवनदशायामतिदुर्वृत्त आसम् । अनेक-गो-मानुषाणां वधान्मे पुत्राः मृताः दाराश्च, वंशहीनश्चाहम् । ततः केनचित् धार्मिकेणाऽहमुपदिष्टः दान-धर्मादिकं चरतु भवान् ।

तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलः, दाता, वृद्धः, गलितनखदन्तः कथं न विश्वासभूमिः ? यतः—

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥
तत्र पूर्वश्चतुवर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुवर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥

'मनुष्य बिना प्राण-संशय में पड़े कल्याण को नहीं देख पाता है । जब वह प्राण-संशय में पड़कर भी बच जाता है तभी उसे कल्याण दिखायी देता है ।'

इसलिए जरा देख तो लूँ । उसने सुनाकर कहा—तुम्हारा कंगन कहाँ है ? बाघ ने हाथ फैलाकर दिखा दिया ।

राही ने कहा—तुम्हारे जैसे हिंसक का कैसे विश्वास किया जाय ?

बाघ ने कहा—राही, सुनो—मैं अपनी जवानी में बहुत ही दुराचारी था । अनेक गाय और मनुष्यों का बध करने के कारण मेरी स्त्री और पुत्र मर गए और मैं वंशहीन हो गया । तब किसी धार्मिक ने उपदेश दिया कि तुम दान और धर्म आदि का आचरण करो । उसके उपदेश से ही इस समय मैं स्नान करके दान देने को तत्पर हूं । मैं बूढ़ा हूं, मेरे नाखून और दाँत गिर चुके हैं फिर मैं क्यों नहीं विश्वासपात्र हूं ? क्योंकि—

'यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, धैर्य, क्षमा और लोभ न करना—ये आठ धर्म के मार्ग बताये गये हैं ।'

'इनमें से पहिले चार तो पाखंड के लिए भी किये जाते हैं किन्तु पिछले चार तो महात्माओं में ही पाये जाते हैं ।'

मम च एतावान् लोभविरहः येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मैचिद् दातुमिच्छामि, तथापि 'व्याघ्रो मानुषं खादती'ति लोकापवादो दुर्निवारः। मया च धर्मशास्त्राण्यधीतानि। शृणु—

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधार्त्ते भोजनं तथा।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डु-नन्दन!।
प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥

त्वं च अतीव दुर्गतः तेन तुभ्यं तद्दातुं सयत्नोऽहम्। तथा चोक्तम्—

दरिद्रान् भर कौन्तेय! मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण।

ततो यावदसौ तद्वचःप्रतीतो लोभात् सरःस्नातुं प्रविशति तावन्महापङ्के निमग्नः, पलायितुमक्षमः। पङ्के तं पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्-अहह

मैं तो इतना लोभरहित हूं कि अपने हाथ में आए हुए सोने के कंगन को जिस किसी को भी देना चाहता हूं, फिर भी बाघ मनुष्य को खाता है इस लोकापवाद को तो मिटा नहीं सकता। मैंने धर्मशास्त्र का अध्ययन किया है। सुनो—

'हे युधिष्ठिर! जिस प्रकार रेगिस्तान में वर्षा और भूख से व्याकुल को भोजन देना सफल होता है उसी प्रकार दरिद्र को दिया गया दान भी सफल होता है।'

'जैसे अपना प्राण अपने को प्रिय होता है उसी प्रकार समस्त प्राणियों का प्राण उन्हें प्रिय होता है। इसीलिए सज्जन लोग अपने जैसा ही समझकर प्राणियों पर दया करते हैं।'

तुम अत्यन्त बुरी दशा में हो इसीलिए मैं इसे तुम्हें ही देने का प्रयत्न कर रहा हूं। कहा भी है—

'हे युधिष्ठिर? दरिद्रों का पालन-पोषण करो। धनियों को धन मत दो। रोगी मनुष्य के लिए दवा लाभदायक होती है, स्वस्थ के लिए दवा की कोई आवश्यकता नहीं होती।'

इसलिए इस तालाब में स्नान करके इस सोने के कंगन को ले लो।

जब उसने उसकी बात पर विश्वास करके स्नान करने के लिए तालाब में प्रवेश किया तो वह कीचड़ में फँसकर भागने में भी असमर्थ हो गया। उसे

महापङ्के पतितोऽसि। अतस्त्वामहमुत्थापयामि। इत्युक्त्वा शनैः शनैः उपगम्य तेन व्याघ्रेण धृतः पान्थोऽचिन्तयत्।

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं,
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते,
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः॥

तन्मया भद्रं न कृतं यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः। तथा ह्युक्तम्—

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृङ्गिणां तथा।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च॥

अन्यच्च—

स हि गगन-विहारी कल्मषध्वंसकारी,
दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी।
विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ,
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः॥

इति चिन्तयन्नेवाऽसौ व्याघ्रेण व्यापादितः खादितश्च।

कीचड़ में पड़ा हुआ देखकर बाघ ने कहा—अरे! तुम तो कीचड़े में फँस गए हो। मैं तुम्हें निकाल रहा हूँ। ऐसा कहकर बाघ ने धीरे-धीरे उसके पास जाकर उसे पकड़ लिया। तब उसने विचार किया—

'धर्मशास्त्र का पढ़ना और वेदों का अध्ययन करना यह दोनों ही दुष्ट को साधु बनानेवाले नहीं हो सकते। जिसका जो स्वभाव होता है वह वैसा ही रहता है जैसे गाय का दूध स्वभाव से ही मीठा होता है।'

इस हिंसक के ऊपर विश्वास करके मैंने ठीक नहीं किया। कहा भी है—

'नदी, शस्त्रधारी, नखवाले, सींगवाले तथा स्त्री और राजवंशका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये।' और भी—

'आकाश में स्वच्छंद विहार करने वाले, अँधेरे को नाश करनेवाले, हजारों किरणोंवाले और नक्षत्रों के बीच घूमने वाले चन्द्रमा को भी भाग्यवशात् राहु ग्रस ही लेता है। इससे यही सिद्ध होता है कि भाग्य में जो कुछ भी लिखा है उसे मिटाने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता।'

इस प्रकार विचार करते हुए उसको बाघ ने मार डाला और खा डाला।

बुद्धि-बलम्

(हितोपदेशात्)

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः ॥

कस्मिंश्चित्तरौ वायसदम्पती निवसतः, तयोश्चापत्यानि तरुकोटरावस्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि । ततः एकदा वायसी वायसमाह—स्वामिन् ! त्यज्यतामयं तरुः । अत्र यावत् कृष्णसर्पः तावदावयोः सन्ततिः कदाचिदपि न जीविष्यति । यतः—

दुष्टा भार्या, शठं मित्रं, भृत्यश्चोत्तरदायकः ।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः ॥

वायसो ब्रूते—प्रिये ! न भेतव्यम् । वारं वारं मया एतस्य महापराधः सोढः, इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः । वायस्याह—कथमनेन बलवता कृष्णसर्पेण सार्धं भवान् विग्रहीतुं समर्थः स्यात् ? वायसो ब्रूते—अलमनया चिन्तया । यतः—

बुद्धि का बल

'जो कार्य उपाय से किया जा सकता है वह पराक्रम से नहीं हो सकता । जैसे कौवी ने सोने की सिकड़ी से काले सर्प को मार डाला ।'

किसी वृक्ष पर कौवों का एक जोड़ा रहता था । उसके बच्चों को उस पेड़ के खौखले में रहनेवाला काला साँप खा जाया करता था । एक बार कौवी ने कोवे से कहा—स्वामी, इस वृक्ष को छोड़ दो । यहाँ जब तक काला साँप रहेगा, तब तक हम दोनों की संतान कभी भी जीवित न रह सकेगी । क्योंकि—

'व्यभिचारिणी स्त्री, खल मित्र, जवाब देने वाला नौकर और सर्पवाले घर में निवास इनसे मृत्यु होने में कोई शंका नहीं होती अर्थात् अवश्य मृत्यु होती है ।'

कौवे ने कहा–प्रिये डरो मत । मैंने कई बार इसके महान् अपराध को सहन कर लिया । अब इसे क्षमा नहीं करूँगा । कौवी ने कहा—क्या तुम इस महान् काले साँप से बैर करने में समर्थ हो सकोगे ? कौवे ने कहा—ऐसी शंका मत करो । क्योंकि—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु, कुतो बलम् ।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥

वायस्याह—कथमेतत्? वायसः कथयति—

अस्ति मन्दरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः स च सर्वदा पशूनां वधं विदधानः एवास्ते। ततः सर्वैः पशुभिः मिलित्वा स सिंहो विज्ञप्तः—देव! किमर्थं सर्वपशुवधः क्रियते? यदि प्रसादो भवति, ततो वयमेव भवदाहारार्थं प्रत्यहमेकैकं पशुमुपढौकयामः। सिंहेनोक्तम्:—यद्येतद् अभिमतं भवतां, तर्हि भवतु तत्। ततः प्रभृति प्रत्यहमेकैकं पशुम् उपकल्पितं भक्षयन् आस्ते।

अथ कदाचित् कस्यापि वृद्धशशकस्य वारः समायातः। ततः सोऽचिन्तयत्—

त्रासहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीविताशया।
पञ्चत्वं चेद् गमिष्यामि किं सिंहानुनयेन मे? ॥

'जिसके पास बुद्धि है उसके पास बल है। जो बुद्धिहीन है उसके पास बल नहीं होता। देखो बुद्धि-बल से ही मतवाला सिंह खरगोश द्वारा मार डाला गया।'

कौवी ने (हँसकर) कहा—यह कैसे? कौवे ने कहा—

मन्दर पर्वत पर दूर्दान्त नाम का एक सिंह रहता था। वह सर्वदा पशुओं का वध किया करता था। एक बार सब पशुओं ने मिलकर सिंह से निवेदन किया कि महाराज! आप क्यों सब पशुओं का वध करते हैं। यदि आप प्रसन्न हों तो हमी लोग आपके भोजन के लिये प्रतिदिन एक पशु भेंट रूप में भेज दें। सिंह ने कहा—यदि आप लोगों की यही इच्छा है तो ऐसा ही होगा। उसी समय से वह प्रतिदिन भेंट रूप में आए हुए एक-एक पशु को खाकर रहने लगा। इसके पश्चात् एक बार किसी बूढ़े खरगोश की बारी आई। उसने सोचा—

'भयभीत होकर जीवन की आशा से ही प्रार्थना की जाती है। यदि मैं मर ही जाने वाला हूँ तो उस सिंह की प्रार्थना से मुझे क्या मिलेगा?'

तन्मन्दं मन्दमुपगच्छामि। ततः सिंहोऽपि क्षुधापीडितः कोपात् तमुवाच—'कुतस्त्वं विलम्बादागतोऽसि'? शशकोऽब्रवीत्-देव ! नाहमपराद्धः। आगच्छन् पथि सिंहान्तरेण बलाद्धृतः। तस्याग्रे पुनरागमनाय शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितुमत्रागतोऽस्मि। सिंहः सकोपमाह—सत्वरं गत्वा दर्शय मे, क्वासौ दुरात्मा तिष्ठति।'

ततः शशकः तं गृहीत्वा गम्भीर-कूप-समीपं गतः—'अत्रागत्य स्वयमेव पश्यतु स्वामी' इत्युक्त्वा तस्मिन् कूपजले तस्यैव सिंहस्य प्रतिबिम्बं दर्शितवान्। ततोऽसौ क्रोधाध्मातः दर्पात्तस्योपरि आत्मानं निक्षिप्य पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य।' इति।

वायसी आह—'श्रुतं मया, सम्प्रति यथा कर्त्तव्यं तथा ब्रूहि।' वायसोऽवदत्:-प्रिये !अत्रासन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति। स्नानसमये तदङ्गावतारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्च्वा धृत्वा आनीय अस्मिन् कोटरे धारयिष्यसि।'

अतः धीरे-धीरे चलूँ। इसके बाद भूख से दुखी सिंह ने उससे क्रोधपूर्वक कहा—तुम इतनी देरी करके क्यों आए हो? खरगोश ने कहा—महाराज ! मेरा कोई दोष नहीं है। मार्ग में आते समय एक दूसरे सिंह ने मुझे बलपूर्वक पकड़ लिया। उसके सामने फिर आने की कसम खाकर स्वामी से निवेदन करने के लिये यहाँ आया हूँ। सिंह ने क्रुद्ध होकर कहा—शीघ्र ही चलकर मुझे दिखाओ। वह दुष्ट कहाँ रहता है?

इसके बाद खरगोश उसे साथ लेकर गहरे कुयें के पास पहुंचा। उसने कहा-स्वामी ! यहां आकर आप स्वयं देख लें। इसके बाद उसने उस कुयें में पड़नेवाले उसी सिंह के प्रतिबिम्ब को दिखा दिया। तब वह क्रोध से अन्धा होकर अभिमान से उसी के ऊपर कूद पड़ा और मर गया। इसीलिए मैंने कहा है—कि जिसके पास बुद्धि है उसके पास बल है।

कौवी ने कहा—यह तो मैंने सुन लिया। अब इस समय जो करना चाहिये उसे बताओ। कौवे ने कहा—प्रिये ! इस समीप के तालाब में राजकुमार प्रतिदिन आकर स्नान करता है। स्नान के समय उसके शरीर से उतार कर किनारे की शिला पर रखे हुए सोने की सिकड़ी को तुम चोंच से पकड़ कर इस खोखले में ले आकर रख देना।

अथ कदाचित् कनकसूत्रं दृषदि संस्थाप्य स्नातुं जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम्। अथ कनकसूत्रानुसरण-प्रवृत्तैः राजपुरुषैः तत्र तरु-कोटरे निरूप्यमाणः कृष्ण-सर्पो व्यापादितः।

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति

(ई०—१६००)

एकदा भोजराजो विहारं कर्त्तुं सकलराजकुमारैः समवेतः तत् क्षेत्र-समीपं यावद् गच्छति तावद् मञ्चोपरि स्थितेन केनचिद् ब्राह्मणेन उक्तम्—'भो राजन्! एतत् क्षेत्रं सम्यक् फलितमस्ति। ससैन्यः समागत्य यथेच्छं भुज्यताम्। अश्वेभ्यश्चणकाः दीयन्ताम्। अद्य मम जन्म-सफलमभूत् यतो भवान् ममातिथिर्जातः। यत ईदृशः प्रस्तावः सम्पद्यते।' तच्छ्रुत्वा स राजा ससैन्यः क्षेत्रमध्ये प्रविष्टः।

अथ ब्राह्मणोऽपि मञ्चकादवरुह्य राजानं क्षेत्रमध्ये स्थितं भणति—'भो राजन्! किमयमधर्मः क्रियते? इदं ब्राह्मणक्षेत्रं विनाश्यते त्वया?

इसके बाद जब किसी समय राजकुमार सोने की सिकड़ी को पत्थर पर रखकर स्नान करने के लिए जल में घुसा तो कौवी ने वैसा ही किया। राजा के नौकर उस सोने की सिकड़ी को खोजते हुए उस वृक्ष के खोखले को देखने लगे और काले साँप को देखकर उसे मार डाला।

दोष और गुण संगति से पैदा होते हैं

एक बार सभी राजकुवारों के साथ विहार करने के लिए भोजराज ज्यों ही उस खेत के पास पहुंचा त्यों ही मञ्च के ऊपर बैठे हुए किसी ब्राह्मण ने कहा—'राजन् यह खेत खूब फला हुआ है। सेनासहित आकर इच्छानुसार भोजन कीजिए। घोड़ों को चना दीजिए आज मेरा जन्म सफल हो गया। क्योंकि आप मेरे अतिथि हुए। इसीसे ऐसा प्रस्ताव कर रहा हूँ।' यह सुनकर राजा ने सेना के साथ खेत में प्रवेश किया।

इसके पश्चात् ब्राह्मण ने मचान से उतर कर खेत में स्थित राजा से कहा—'हे राजन्, यह अधर्म क्यों करते हो। इस ब्राह्मणके खेत को क्यों नष्ट कर रहे हो?

यद्यन्यायः केनचित् क्रियते, तदा तुभ्यं निवेद्यते त्वमेवान्यायं कर्तुं प्रवृत्तः इदानीं को वा निवारयिष्यति ?'

ततो राजा यावत् क्षेत्राद् बहिः सपरिवारो निर्गच्छति तावत् पक्षिणः समुत्थाप्य पुनः मञ्चमारुह्य वदति—'भो राजन् किमिति गम्यते ? क्षेत्रं साधुफलितमस्ति। यावनालकदण्डान् अश्वादयः भक्षयन्तु। उर्वारुक-फलानि सन्ति, उपभुज्यन्ताम्।'

पुनर्ब्राह्मणवचनमाकर्ण्य सपरिवारो राजा यावत् क्षेत्रमध्ये प्रविशति तावत् प्रत्युत्थापनार्थं, मञ्चाद् अवरुह्य पुनस्तथैवाभवत्। ततो राजा स्वमनसि विचारयति—'अहो! आश्चर्यम्। यदा अयं ब्राह्मणः मञ्चमारोहति तदा अस्य चेतसि दातव्यं, भोक्तव्यमिति बुद्धिः उत्पद्यते। यदा अवतरति तदा दीन-बुद्धिः भवति। तदहं मञ्चमारुह्य पश्यामि।' इति मञ्च-मारुरोह।

भोजराजस्य चेतसि तदा वासना एवमभूत्—विश्वस्यार्तिः परिहर-णीया, सर्वस्य लोकस्यापि दारिद्र्यं सम्यग् निवारणीयम्, दुष्टाः दण्ड-

---

जब कोई अन्याय करता है तो तुमसे कहा जाता है और जब तुम्हीं अन्याय कर रहे हों तो तुम्हें भला कौन रोकेगा ?'

इसके बाद राजा जब सपरिवार खेत से बाहर हो गया तो ब्राह्मण चिड़ियों को उड़ाकर फिर ऊँची मचान पर चढ़ गया और बोला—'हे महाराज, जा क्यों रहे हैं। खेत भली भाँति फला हुआ है। ज्वार आदि के डण्ठलों को घोड़ों आदि को खिलाइए और ककड़ी के फल हैं उनका स्वयं उपभोग कीजिए।'

फिर ब्राह्मण की बात सुन राजा ज्यों ही सपरिवार खेत के बीच पहुँचा त्यों ही चिड़ियों को भगाने के लिए ब्राह्मण ने मञ्च से उतर कर फिर उसी प्रकार कहा। तब राजा ने अपने मन में विचार किया—आश्चर्य है ! जब यह ब्राह्मण मञ्च पर चढ़ जाता है तब इसके मनमें 'दान करना चाहिए, भोग करना चाहिए' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है और जब उतर आता है तो दीनों की सी बुद्धिवाला हो जाता है। इसलिए मैं मञ्च पर चढ़कर देखूँ तो सही। ऐसा सोचकर वे मंच पर चढ़ गए।

उस समय राजा भोज के मन में ऐसी इच्छा हुई—संसार के कष्टों को दूर करना चाहिये, सभी लोगों की दरिद्रता का पूर्ण रूप से निवारण करना चाहियें,

नीयाः सज्जनाः पालनीयाः, प्रजा धर्मेण रक्षणीयाः। किं बहुना अस्मिन् समये यदि कश्चित् शरीरमपि प्रार्थयिष्यति तदपि देयमिति आनन्दपरिपूर्णः पुनः विचारयति—अहो एतत् क्षेत्रमस्य एवंविधां बुद्धिमुत्पादयति। उक्तञ्च—

जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः॥

कथमेतत् क्षेत्रस्य माहात्म्यं ज्ञायते इति विचार्य ब्राह्मणमाहूयावादीत् 'भो ब्राह्मण! तवैतस्मात् क्षेत्रात् कियाँल्लाभो भवति?'

ब्राह्मणेनोक्तम्—भो राजन्! सकलकुशलेन त्वया अविदितं किमपि नास्ति। यदर्हति तत् करोतु। राजा नाम साक्षात् कल्पवृक्षः। स त्वं मम दृष्टेः गोचरोऽभूः, अद्य मम दैन्यदरिद्रतादीनामवसानं जातम्, क्षेत्रं कियत्।' ततो राजा तं ब्राह्मणं धनधान्यादिना परितोष्य तत् क्षेत्रं गृहीत्वा यञ्चकाधः खानितुं प्रारम्भमकार्षीत्। पुरुषप्रमाणे गर्ते जाते शिला एका सुमनोहरा अवलोकिता। तदधः चन्द्रकान्तशिलाविनिर्मितं नानारत्न-

---

दुष्टों को दंड देना चाहिये, सज्जनों का पालन करना चाहिए, प्रजाओं की धर्म से रक्षा करनी चाहिए; अधिक क्या कहें यदि इस समय कोई शरीर भी मांगे तो उसे भी दे देना चाहिए। इस प्रकार आनन्दित होकर फिर विचार किया—अहो! यह खेत ही इसको ऐसी बुद्धि देता है। कहा भी है—

'जलमें तेल, दुष्ट में रहस्यपूर्ण बात, सत्पात्र में दान, बुद्धिमान्में शास्त्र थोड़ा होते हुए भी उन-उन वस्तुओं की शक्ति से अधिक स्वयं विस्तृत हो जाता है।

इस खेत का महत्त्व किस प्रकार से समझा जाय। ऐसा सोचकर ब्राह्मण को बुलाकर कहा—ब्राह्मण, तुमको इस खेत से कितना लाभ होता है?

ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'राजन्! सम्पूर्ण विद्या में चतुर आप क्या नहीं जानते हैं? जैसा उचित हो वैसा कीजिए। राजा तो साक्षात् कल्पवृक्ष होता है। वही तुम्हारा आज मुझे दर्शन हुआ है। आज मेरी दीनता और दरिद्रता आदि का अन्त हो गया। खेत की क्या बात।' तब राजा ने धन-धान्य से ब्राह्मण को संतुष्ट करके खेत को ले लिया और मचान के नीचे खुदवाना प्रारम्भ किया। पुरुष-बराबर गड्ढा हो जाने पर एक अतीव सुन्दर शिला दिखाई पड़ी। उसके नीचे चन्द्रकांत

खचितं द्वात्रिंशत्पुत्तलिकाभिः युक्तम् अतिरमणीयम् दिव्यमेकं सिंहासनमपश्यत्। तत् सिंहासनं दृष्ट्वा भोजराजः परमानन्द-लहरी-परिपूर्ण-हृदयः भूत्वा सिंहासनं ग्रामं नेतुं यावदुच्चालयति तावदधिकं गुरु भवति, नोच्चलति च ।

ततो मन्त्रिणमवदत्—'भो मन्त्रिन्! किमर्थमेतत् सिंहासनं नोच्चलति ?' मन्त्रिणोक्तम्—'राजन्! एतत् सिंहासनं दिव्यमपूर्वं च बलि-होमपूजादिकं विना नोच्चलिष्यति; तव साध्यं च न भविष्यति ।'

तस्य वचनं श्रुत्वा राजा ब्राह्मणान् आहूय तैः सर्वमपि विधानं कारितवान्। ततस्तत् सिंहासनं लघु भूत्वा स्वयमेवोच्चलतिस्म। तद्दृष्ट्वा राजा मन्त्रिणमुवाच—भो मन्त्रिन्; एतत् सिंहासनं प्रथमं मम असाध्यमभवत्, परन्तु इदानीं तव बुद्धिप्रभावेण मम हस्तगतमासीत्। अतो बुद्धिमतां संसर्गः लाभाय सुखाय च भवति ।'

पत्थर से बना हुआ, तरह-तरह के रत्नों से जड़ा हुआ बत्तीस पुतलियों से युक्त एक अत्यन्त सुन्दर और दिव्य सिंहासन दिखाई पड़ा। उस सिंहासन को देखकर भोजराज का हृदय आनन्द की लहरों से परिपूर्ण हो गया। जब राजा ने उसे अपने गाँव ले जाने के लिए उठवाना चाहा तो वह बहुत भारी हो गया और न उठ सका।

तब राजा ने मन्त्री से कहा—मन्त्री, यह सिंहासन क्यों नहीं उठ रहा है ? मन्त्री ने कहा—महाराज, यह सिंहासन दिव्य और अपूर्व है अतः बलि, होम और पूजा के बिना न तो यह उठ सकेगा तथा न आप के लिए साध्य ही हो सकेगा।

उसकी बात सुनकर राजा ने ब्राह्मणोंको बुलाकर उनसे सभी विधान कराया। उससे यह सिंहासन हल्का होकर स्वयं उठ गया। यह देखकर राजा ने मंत्री से कहा—मंत्री, यह सिंहासन पहले मेरे लिए असाध्य था। परन्तु इस समय तुम्हारी बुद्धि के प्रभाव से मेरे हाथ में आ गया है इसलिए बुद्धिमानों का साथ लाभ और सुख देने वाला होता है।

कर्तव्यपरायणः दौवारिकः

(शिवराजविजयात्)

स्व० पं० अम्बिकादत्तव्यासः

(ई०—१९००)

ततः संवृत्ते किञ्चिदन्धकारे धूप-धूमेनेव व्याप्तासु हरित्सु भुशुण्डीं स्कन्धे निधाय निपुणं निरीक्षमाणः, आगत-प्रत्यागतञ्च विदधानः, प्रतापदुर्ग-दौवारिकः, कस्यापि पादक्षेप-ध्वनिमिव अश्रौषीत् । ततः स्थिरीभूय पुरतः पश्यन् सत्यपि दीप-प्रकाशे अवतमसवशाद् आगन्ता कमपि अनवलोकयन्, गम्भीरस्वरेण एवमवादीत्—

'कः कोऽत्र भोः ? कः कोऽत्र भोः ?' इति ।

अथ क्षणानन्तरं पुनः स एव पादध्वनिः अश्रावि, इति भूयः साक्षेपमवोचत्—'क एष मामनुत्तरयन् मुमर्षुः समायाति बधिरः ?' ततः—'दौवारिक ! शान्तो भव, किमिति व्यर्थं मुमर्षुरिति, बधिर इति च वदसि ? ! इति वक्तारमपश्यता एव आकर्णि मन्दस्वरमेदुरा वाणी । अथ 'तत् किं नाज्ञायि अद्यापि भवता प्रभुवर्याणामादेशो यद् दौवारिकेण

कर्तव्य-परायण द्वारपाल

इसके पश्चात् जब कुछ अँधेरा छा गया था, दशों-दिशायें मानो धूप के धुयें से आच्छादित हो गई थीं, उस समय कन्धे पर बन्दूक रखे हुए भलीभांति इधर-उधर देखते हुए प्रताप दुर्ग का द्वारपाल गश्त लगा रहा था । उसी समय उसे किसी के पैरों की आहट-सी सुनाई पड़ी । वह तत्काल खड़ा होकर सामने देखने लगा । दीपक का प्रकाश होने पर भी अन्धकार के कारण किसी भी आनेवाले को न देखकर उसने डपटकर कहा—अरे ! यहाँ कौन है ? अरे ! यहां यह कौन है ?

एक क्षण के पश्चात् उसे फिर वही पैरों की आहट सुनाई पड़ी अतः असने क्रोध के साथ कहा—मुझे उत्तर दिए बिना यह कौन मरणासन्न बहरा आ रहा है ? इसके पश्चात् 'द्वारपाल ! शान्त रहो, क्यों व्यर्थ ही मरणासन्न और बहरा कह रहे हो ।' इस प्रकार कहनेवाले को बिना देखे ही उसने गम्भीर और कोमल वाणी सुनी । तब उसने कहा —'क्या आपको अभी तक महाराज का यह आदेश

प्रहरिणा वा त्रिः पृष्टोऽपि प्रत्युत्तरम् अददद् हन्तव्य इति ?' इत्येवं भाषमाणेन द्वाःस्थेन, 'क्षम्यतामेष आगच्छामि आगत्य च निखिलं निवेदयामि' इति कथयन् द्वादशवर्षेण केनापि भिक्षुबटुना अनुगम्यमानः, कोऽपि काषायवासाः, धृत-तुम्बी-पात्रः, भस्म-च्छुरित-ललाटः, रुद्राक्ष-मालिका-सनाथित-कण्ठः, भव्यमूर्तिः संन्यासी दृष्टः । ततस्तयोरेवमभूदालापः—

संन्यासी—कथमस्मान् संन्यासिनोऽपि कठोरभाषणैः तिरस्करोषि ?

दौवारिकः—भगवन् ! भवान् संन्यासी तुरीयाश्रमसेवीति प्रणम्यते, परन्तु प्रभूणामाज्ञामुल्लंध्य निजपरिचयमददद् एव आयातीत्याक्रुश्यते ।

संन्यासी—सत्यं क्षान्तोऽयमपराधः, परमद्यावधि संन्यासिनः ब्रह्मचारिणः, पण्डिताः स्त्रियः, बालाश्च न किमपि प्रष्टव्याः, आत्मानमपरिचाययन्तोऽपि च प्रवेष्टव्याः ।

दौवारिकः—संन्यासिन्, संन्यासिन् !! बहूक्तम्, विरम, न वयं दौवारिकाः ब्रह्मणोऽप्याज्ञां प्रतीक्षामहे । किंतु यो वैदिक-धर्मरक्षा-व्रती,

---

मालूम नहीं है कि द्वारपाल या पहरेदार के तीन बार पूछने पर यदि कोई उत्तर न दे तो वह उसे गोली से उड़ा दे ।' इस प्रकार कहने वाले द्वारपाल से क्षमा कीजिए, मैं आ रहा हूँ, आकर सारा हाल बताता हूँ'—इस प्रकार कहते हुए गेरुवा वस्त्र पहिने, हाथ में तुम्बी लिए, ललाट पर भस्म लगाए, गले में रुद्राक्ष की माला पहिने, अपने पीछे किसी बारह वर्षीय भिक्षु ब्राह्मण-बालक को लिये एक संन्यासी दिखाई दिया । इसके पश्चात् उन दोनों में इस प्रकार बातचीत हुई ।

संन्यासी—हम संन्यासियों को भी कठोर बातों द्वारा क्यों अपमानित कर रहे हो ?

द्वारपाल—भगवान् ! आप संन्यासी हैं, चौथे अश्रम में रहनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार है । परन्तु महाराज की आज्ञा का उल्लंघन करके विना उत्तर दिए हुए ही आ रहे हैं इसलिए मैं बिगड़ रहा हूँ ।

संन्यासी—सत्य है । मैंने तुम्हारा यह अपराध क्षमा किया । किन्तु आज से संन्यासियों, ब्रह्मचारियों, पंडितों स्त्रियों और बालकों से कुछ भी न पूछना और यदि वे अपना परिचय न भी दें तो भी उन्हें प्रवेश कराना ।

द्वारपाल—संन्यासी ! संन्यासी !! बहुत कह चुके । अब चुप हो जाइए, हम द्वारपाल ब्रह्मा की भी आज्ञा माननेवाले नहीं हैं । लेकिन जिन्होंने वैदिक धर्म की

यश्च संन्यासिनां, ब्रह्मचारिणां, तपस्विनाञ्च संन्वासस्य, ब्रह्मचर्यस्य, तपसश्च अन्तरायाणां हन्ता, येन च वीरप्रसविनी इयमुच्यते कोङ्कणदेश-भूमिः, तस्यैव महाराजशिववीरस्य आज्ञां वयं शिरसा वहामः ।

संन्यासी—अथ किमप्यस्तु, पन्थानं निर्दिश । आवां शिववीरनिकटे जिगमिषावः ।

दौवारिकः—अलमालप्यापि तत् । प्राह्णे महाराजस्य सन्ध्योपासन-समये भवादृशानां प्रवेशसमयो भवति, न तु रात्रौ ।

संन्यासी—तत् किं कोऽपि न प्रविशति रात्रौ ?

दौवारिकः—(साक्षेपं) कोऽपि कथं न प्रविशति ? परिचिता वा प्राप्त-परिचय-पत्रा वा आहूता वा प्रविशन्ति, न तु भवादृशाः, ये तुम्बीं गृहीत्वा द्वाराद् द्वारम् इति कथयन्नेव तत्तेजसेव धर्षितः मध्ये एव विरराम ।

संन्यासी—(स्वगतम्) राजनीतिनिष्णातः शिववीरः । सर्वथा दौवा-रिकतायोग्य एवायं द्वारपालः स्थापितोऽस्ति । परीक्षितमपि एनमनेक-

---

रक्षा का व्रत ले रखा है, जो संन्यासियों के संन्यास, ब्रह्मचारियों के ब्रह्मचर्य और तपस्वियों के तप में विघ्न डालनेवालों के विनाशक हैं और जिनसे यह कोंकण देश की भूमि वीर जन्म देनेवाली कही जाती है, हम लोग उन्हीं महाराज वीर शिवाजी की आज्ञा शिरोधार्य करते हैं ।

संन्यासी—ठीक है, चाहे जो हो । मार्ग बताओ । हम दोनों वीर शिवाजी के पास जाना चाहते हैं ।

द्वारपाल —यह मत कहिए । दोपहर के पहिले महाराज के सन्ध्योपासन के समय आप जैसे लोगों के प्रवेश का समय है न कि रात में !

संन्यासी—तो क्या रात में किसी का प्रवेश नहीं होता ?

द्वारपाल—(क्रोध के साथ) कोई भी क्यो नहीं प्रवेश करता । जो परिचित होते हैं या जिनके पास परिचय-पत्र होता, या जो आमन्त्रित होते हैं वे प्रवेश करते हैं, न कि तुम्हारे जैसे लोग, जो तुम्बी लेकर इस दरवाजे से उस दरवाजे— ऐसा कहते हुए वह उसके तेज से मानो प्रभावित होकर बीच ही में चूप हो गया ।

संन्यासी—(अपने आप) वीर शिवाजी राजनीति में निपुण हैं । उन्होंने द्वार-रक्षा के गुणों से युक्त ही इसे द्वारपाल के रूप में नियुक्त किया है । यद्यपि

स्मिन् विषये पुनः परीक्षिष्ये तावत्। (प्रकटम्) दौवारिक! इत आयाहि, किमपि कर्णे कथयिष्यामि।

दौवारिकः—(तथा कृत्वा) कथ्यताम्।

संन्यासी—निरीक्षस्व, त्वमधुना दौवारिकोऽसि, प्राणान् अगणयन् जीविकां निर्वहसि। त्वं सहस्रं वा अयुतं वा मुद्राः राशीकृताः कदापि प्राप्स्यसीति न कथमपि सम्भाव्यते।

दौवारिकः—आम्, अग्रे कथ्यताम्।

संन्यासी—वयञ्च संन्यासिनः वनेषु गिरिकन्दरेषु च विचरामः, सर्वं रसायन-तत्त्वं विद्मः।

दौवारिकः—स्यादेवम्, अग्रे, अग्रे?

संन्यासी—तद् यदि त्वं मां प्रविशन्तं न प्रतिरुधेः तद् अधुनैव परिष्कृतं पारद-भस्म तुभ्यं दद्याम्, यथा त्वं गुञ्जामात्रेणापि द्वापञ्चाशत् संख्याक-तुलापरिमितं ताम्रं जाम्बूनदं विधातुं शक्नुयाः।

दौवारिकः—हंहो! कपट-संन्यासिन्! कथं विश्वासघातं स्वामि-

मैंने इसकी परीक्षा ले ली फिर भी एक दूसरे विषय में भी इसकी परीक्षा कर लूं। (सुनाकर) द्वारपाल! इधर आओ, मैं तुम्हारे कान में कुछ कहूँगा।

द्वारपाल—(ऐसा करके) कहिये।

संन्यासी—देखो, तुम इस समय द्वारपाल हो। अपने प्राण की परवाह न करके जीवननिर्वाह कर रहे हो। तुम हजार या दस हजार रुपये इकट्ठा पा सकोगे—यह किसी तरह सम्भव नहीं हो सकता।

द्वारपाल—ठीक है, आगे कहिए आगे।

संन्यासी—हम लोग संन्यासी, हैं जंगलों और पहाड़ों की गुफाओं में विचरण करते रहते हैं। रसायन के सभी तत्त्व हम जानते हैं।

द्वारपाल— हो सकता है, आगे कहिए आगे।

संन्यासी— यदि तुम मुझे प्रवेश करने में कोई बाधा न डालो तो मैं अभी तुम्हें शोधे हुए पारे की भस्म देता हूँ। जिससे तुम एक रत्ती से हजारों पल तांबे का सोना बना सकते हो।

द्वारपाल—क्या ही अच्छा कहा! अरे कपटवेषधारी संन्यासी! तुम मुझे विश्वास-

वञ्चनञ्च शिक्षयसि ? ते केचन अन्ये भवन्ति जार-जाताः ये उत्कोच-लोभेन स्वामिनं वञ्चयित्वा आत्मानमन्धतमसे पातयन्ति । न वयं शिव-गणाः तादृशाः । (संन्यासिनः हस्तं धृत्वा) इतस्तु सत्यं कथय, कस्त्वम् ? कुत आयातः ? केन वा प्रेषितः ?

संन्यासी—(स्मित्वेव) अथ त्वं मां कं मन्यसे ?

दौवारिकः—अहन्तु त्वामस्यैव ससेनस्यायातस्य अपजलखानस्य···

संन्यासी—(निवार्य मध्य एव) धिक् ! धिक् !!

दौवारिकः—कस्यापि अन्यस्य वा गूढचरं मन्ये । तदादेशं पाल-यिष्यामि प्रभुवर्यस्य । (हस्तमाकृष्य) आगच्छ दुर्गाध्यक्ष-समीपे, स एवाभिज्ञाय त्वया यथोचितं व्यवहरिष्यति ।

ततः संन्यासी तु—'त्यज, नाहं पुनरायास्यामि, नाहं पुनरेवं कथ-यिष्यामि, महाशयोऽसि, दयस्व, दयस्व'—इति सहस्रया समचकथत् । तथापि दौवारिकस्तु तमाकृष्य नयन्नेव प्रचलितः ।

अथ यावद् द्वारस्थस्तम्भोपरि संस्थापितायां काच-मञ्जूषायां जाज्वल्यमानस्य प्रबलप्रकाशस्य दीपस्य समीपे समायातः तावत्

घात और स्वामी के साथ छल करने की शिक्षा दे रहे हो ? वे कोई दूसरे ही जारों के पुत्र होते हैं जो घूस के लोभ में स्वामी को ठगकर अपने को नरक में डालते हैं । हम शिवा जी के सेवक एसे नहीं हैं । (संन्यासी का हाथ पकड़कर) अब ठीक ठीक कहो—तुम कौन हो ? कहाँ से आए हो ? और किसने भेजा है ?

संन्यासी—(मुस्कराते हुए) अच्छा, तुम मुझे क्या समझ रहे हो ?

द्वारपाल—मैं तो तुम्हें सेना के साथ आए हुए इसी अफजल खां का······

संन्यासी – (टोक कर बीच ही में) छिः छिः !

द्वारपाल—अथवा किसी दूसरेका गुप्तचर समझता हूँ । इसलिए महाराजका आदेश पालन करुँगा । (हाथ खींचकर) दुर्गाध्यक्षके पास जाओ । वहीं सोच-समझकर तुम्हारे साथ जैसा उचित होगा वैसा करेगें ।

इसके पश्चात् संन्यासी इस प्रकार हजारों प्रार्थनाएँ करने लगा–'छोड़ दो, मैं फिर नहीं आऊंगा, मैं फिर ऐसा नहीं कहूंगा ।' तुम बड़े उदार हो । दया करो, दया करो' फिर भी द्वारपाल उसे खींचता हुआ ले चला ।

इसके पश्चात् जब द्वारपाल फाटक के खम्भे पर रखी हुई कांच की पेटी में जलतेहुए तेज दीपक के पास पहुंचा तो संन्यासी ने उससे कहा—द्वारपाल ! क्या

संन्यासिना उक्तम्—'दौवारिक! अपि मां पूर्वमपि कदाप्यद्राक्षीः?' ततो दौवारिकः पुनस्तं निपुणं निरीक्षमाणः मन्द्रेण स्वरेण, अरुणापाङ्गाभ्यां लोचनाभ्यां, गौरतरेण वर्णेन, चुम्बितयौवनेन वयसा, निर्भीकेण हारिणा च मुखमण्डलेन पर्यचिनोत्। भुशुण्डी-समुत्तोलन-किण-कर्कश-करग्रहमपहाय, सलज्ज इव च नम्रीभूय प्रणमन् उवाच—'आः! कथं श्रीमान् गौरसिंहः आर्यः? क्षम्यतामनुचितः व्यवहारः एतस्य ग्राम्यवराकस्य।' तदवधार्य तस्य पृष्ठे हस्तं विन्यसन् संन्यासिरूपो गौरसिंहः समवोचत्'—दौवारिक! मया बहुशः परीक्षितोऽसि। ज्ञातोऽसि, यथायोग्य एव पदे नियुक्तोऽसि चेति। त्वादृशा एव प्रभुवर्याणां पुरस्कारभाजनानि भवन्ति, लोकद्वयञ्च विजयंते तव प्रामाणिकतां जानीत एव अत्र भवान् प्रभुवर्यः, परमहमपि विशिष्य कीर्तयिष्यामि।'

—:०:—

भूषणकवेः शिवराजेन परिचयः

(शिवराजविजयात्)

अथैकदा रजन्यां सिंह-दुर्गाविदूरे एव सुकोमल-शादायां कलित-

तुमने पहले भी कभी मुझे देखा था? द्वारपाल ने फिर उसे भलीभांति देखा और उसकी गम्भीर वाणी, लाल-लाल आंख के कोरों, अत्यन्त गोरे रंग, उभड़ती हुई जवानी और भयरहित मनोहर मुख से उसे पहिचान लिया और बन्दूक उठाने से चिन्हित कठोर हाथों को छोड़कर लज्जित सा हो सिर झुककर प्रणाम करते हुए कहा—ओह! आप आर्य गौरसिंह हैं? इस बेचारे ग्रामीण के अपराध को क्षमा करें। यह सुनकर संन्यासी-वेशधारी गौरसिंह ने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—द्वारपाल! मैंने तुम्हारी बहुत परीक्षा ली। मैंने तुम्हें भली-भांति समझ लिया है। तुम्हारा इस पद पर नियुक्त किया जाना बिलकुल उचित है। तुम्हारे ही जैसे लोग स्वामी द्वारा पुरस्कार पाने योग्य होते हैं और लोक-परकोक दोनोंमें सम्मान पाते हैं। पूज्य स्वामी तुम्हारी प्रामाणिकता को जानते ही हैं। किन्तु मैं मी विशेष रूप से कहूँगा।

भूषण कवि का महाराज शिवाजी से परिचय

इसके पश्चात् एक रात में सिंहद्वार के समीप अत्यन्त कोमल घासों से पूर्ण

प्रसादायां केकि-केका-विहित-प्रहरि-प्रतिनिध्यायां निष्कृप-कृपाण-पाणिः, काञ्चुकाच्छादित-कठिन-कवचः, कलित-सैनिक-भट-वेषः, श्रीशिववीरो गुप्तवेषेण परितः पर्यटन्, दुग्ध-धारया इव क्षालितैः, ज्योत्स्नया प्रकाशितैः, पथिभिः आसन्नात् शिवमन्दिराद् आराद् आजगाम। तत्र च द्वारि रेणु-रूषित-रोम-कुहरम्, शफोत्फालित-मृत्स्नास्नातं, त्वरित-गति- श्वास-प्रश्वास-सहचरित-हिणत्कारसूचित-क्लमम्, उत्थाय उत्थाय, पृष्ठमुत्कम्प्य, ग्रीवाम् उद्धूय, पौनःपुन्येन पतित्वा, भुवि विलुण्ठन्त, कञ्चन अश्वमद्राक्षीत्। 'कस्यायम्? कुतोऽयम्?' इति मनसि विचिन्वँश्च समीपमागत्य, चुचुत्कारैः अश्वं सान्त्वयन्तं हरित-तृण-भारं च पुरतः प्रक्षिपन्तं कमपि शूद्रयुवकमपि अवालोकयत्। तं च विवर्ण-वदनम्, आजानु-धूलि-धूसरित-चरण-युगलं मन्दरितशरीरं स्वेद-क्लिन्नं च अवलोक्य 'दूरतः कश्चन समायातोऽस्ति, तद्भृत्य एवायम्' इति निश्चित्य शनैः अप्राक्षीत्—कस्यायमश्वः?' इति। स तु स्वकार्य-

---

निर्मल भूमि पर जहाँ मयूरों की ध्वनि प्रहरी का कार्य कर रही थी, हाथ में अत्यन्त निष्ठुर तलवार लिए हुए, कञ्चु से ढके कठिन कवच को धारण किए हुए सुन्दर वीर का वेश बनाये हुए महाराज वीर शिवाजी गुप्तवेशमें चारों ओर घूमते हुए दूध की धारा में धुले हुए चाँदनी से प्रकाशित मार्ग द्वारा समीप के शिव-मन्दिर के पास आये। उस मन्दिर के दरवाजे पर उन्होंने, धूल से भरे हुए रोवों वाले, खुर से उठी हुई मिट्टी में सने हुए, जल्दी जल्दी आने-जानेवाली साँसों के साथ हिनहिना कर थकान की सूचना देनेवाले, उठ-उठकर पीठ को कँपाकर गर्दन को उभाड़ कर बार-बार गिरकर पृथ्वी पर लोटनेवाले किसी घोड़े को देखा। 'यह किसका है, कहाँ से आया है' इस प्रकार मन में सोचते हुए उनके समीप आकर उन्होंने चू-चू करके घोड़े को सान्त्वना देते हुए और हरी-हरी घास उसके सामने डालते हुए एक शूद्र नवयुवक को भी देखा। उसका मुँह सूखा हुआ था, उसके पैर घुटने तक धूल से भरे हुए थे, उसका शरीर थका हुआ था और वह पसीने से भींगा हुआ था। उसे ऐसी दशा में देखकर उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि कोई दूर से आया है और यह उसी का सेवक है। उन्होंने उससे धीरे से पूछा—यह किसका घोड़ा है? कार्य में लगे हुए उसकी ओर विशेष ध्यान न देकर उस सेवक ने उत्तर दिया—कोई आया है। शिवाजी के फिर पूछने पर कि

संलग्नः अन्यमनस्क एव, 'समायातः कोऽपि' इत्युदतरत्। पुनरपि कुतः आगताः यूयम्? इति पृच्छति शिववीरे च, 'किमिव निरर्थं प्रश्नानुद्दङ्कयसि? आलपितुमिच्छसि चेत् घटिकायुगमतिवाह्य समायास्यसि, यथा पूरित-जठर-पिटकः ताम्रक-धूमपानैः गलतलं कवोष्णयन्, त्वया सह वार्ताभिः अध्वपरिश्रमम् अल्पयिष्यामि।' तदाकर्ण्य अन्तःविहसन्निव शिववीरः 'तथा करिष्यावः किन्तु कथय तावत् कुत आगताः यूयम्?' इति पुनरपृच्छत्। स तु घोटके दत्तदृष्टिरेव सकोपमवादीत्—'कुतः आगताः यूयम्, कुतः आगताः यूयम्' इति कुतःकारैः स्फोटितौ मे कर्णौ। वयं दिल्लीतः आगताः। दिल्लीतः, दिल्लीतः, दिल्लीतः। कथय किं गजं ददासि घोटकं वा?' तदाकर्ण्य शिववीरः तत्प्रकृतिं परिज्ञाय, शनैः परिवृत्य, मन्दिरस्य पश्चिमदेशे पर्यटितुमारेभे।

'कोऽयं, कुतोऽयं, चरो वा, सन्देशहरो वा, कपटपथिको वा अस्मत्पक्षपाती वा, शत्रुपदातिर्वा, कोऽपि उभयपक्षोदासीनो वेति सद्य एव विज्ञेयम्' इति विचारयन्, मन्दिर-पाश्चात्त्य-प्राचीर-गवाक्षाद् आयान्तं

तुम लोग कहाँ से आये हो, उसने कहा क्यों व्यर्थ प्रश्नों से परेशान कर रहे हो। यदि बातचीत करना चाहते हो तो दो घड़ी बाद आना। तब पेट रूपी पिटारी भरकर तम्बाकू के धुएँ से गलेको गरमाते हुए तुम्हारे साथ बातचीत द्वारा रास्ते की थकान मिटाऊँगा। यह सुनकर मुसकराते हुए शिवाजी ने कहा—ऐसा ही करेंगे किन्तु यह तो बताओ तुम लोग आ कहाँ से रहे हो? वह घोड़े की ओर देखते हुए ही क्रोध के साथ बोला—कहाँ से तुम लोग आये हो, कहाँ से तुम लोग आए हो? इस कहाँ-कहाँ से तो मेरे कान फूट गए। हम लोग दिल्ली से आये हैं, दिल्लीसे, दिल्ली से, दिल्ली से। बताओ हाथी दोगे या घोड़ा। यह सुनकर शिवाजी ने उसका स्वभाव समझ लिया और धीरे से लौटकर मन्दिर के पीछे टहलना प्रारम्भ किया।

यह कौन है? कहाँ का है ? यह कोई गुप्तचर या दूत है या कपटी राही है। यह अपने पक्ष का है या शत्रु का सिपाही है अथवा यह दोनों पक्षों से उदासीन (अर्थात् न मेरे पक्ष का न शत्रु पक्ष का) कोई दूसरा है—इस बात को शीघ्र ही जान लेना चाहिए। ऐसा सोचते हुए शिवाजी ने मन्दिर के पीछे की

कञ्चिद् अस्पष्टालाप-ध्वनिमश्रौषीत्। क्षणं विरम्य च गवाक्ष-समीप-मागत्य, ध्वनिप्रतिध्वनिभिः अव्यक्तांशबहुलामपि एवमुक्ति निश्चिच्ये यत्-

चिराय दिल्ली-वल्लभ-पाणि-पल्लव-तल्लज-च्छायामध्युषितोऽस्मि। परं वयं कवयः कस्यापि राजत्वं वा प्रतापित्वं वा आढ्यत्वं वा नापेक्षा-महे। न वा कस्यापि साभिमान-भ्रूभङ्गम्, उत्तुङ्ग-कोपाञ्चिताखर्व-गर्व-बर्वरतां वा सहामहे। न तस्य तादृशं भू-वलये राज्यं यादृशमस्माकं सारस्वत-सृष्टौ, तस्य क्रीतदासा अपि न तदीहा-समकालमेव बद्ध-कर-सम्पुटा यथोचितावस्थानाः पुरोऽवतिष्ठन्ते, यथाऽस्माकं पदानि, वाक्यानि, छन्दांसि, अलङ्काराः, रीतयः गुणाः, रसाश्च। स दीनार-सम्भारैरपि न तथा परान् तोषयितुमलम्; यथा वयं केवलं वचनभङ्गी-भिरेव पारयामः अस्मत्-शृङ्गार-रस-रसायनकम् आस्वाद्य जित-राग-द्वेषा मुनिरपि प्रतीपदर्शिनीम् अनुकूलयितुम् आकुलः कल्पेत। अस्मद्-

---

चहारदिवारी के झरोखे से आनेवाली साफ-साफ न सुनाई देने वाली बातचीत की ध्वनि सुनी। क्षणमात्र रुककर जंगले के पास आकर ध्वनि-प्रतिध्वनि द्वारा उन्होंने ऐसी बातचीत सुनी यद्यपि उस बातचीत का बहुत-सा अंश स्पष्ट नहीं हुआ।

'मैं बहुत दिनों तक दिल्लीपति के करकमलों की उदार छाया में रहा हूँ। परन्तु हम कवियों ने किसी के राजस्व, प्रताप और धन की अपेक्षा नहीं की। न तो किसी की अभिमान से टेढ़ी निगाहों को बरदाश्त किया और न तो किसी की महान् क्रोधयुक्त अभिमान-पूर्ण मूर्खता को ही सहन किया। इस पृथ्वी-मंडल में ऐसा कोई राज्य नहीं जैसा हमारी इस सरस्वती की सृष्टि में (काव्य-जगत् में) है। पृथ्वी मंडल के राजा के खरीदे हुए सेवक भी उसकी इच्छा करने के समय ही हाथ जोड़कर उचित स्थान में उसके सामने उस प्रकार आकर नहीं खड़े हो जाते हैं जैसे हमारे पद, वाक्य, छन्द, अलंकार, रीति, गुण और रस आ जाते हैं। वह अशर्फियों की ढेरी से भी दूसरों को उस प्रकार सन्तुष्ट करने में नहीं समर्थ हो सकते जैसा हम केवल वाणी की चतुराई से कर सकते हैं। हमारे शृङ्गार रस रूपी रसायन का स्वाद लेकर राग द्वेष को जीत लेने वाले मुनि भी स्त्रियों को अपने अनुकूल करने के लिए व्याकुल हो जाते हैं। हमारी वैराग्यपूर्ण कविता को

वैराग्य-कवितामाकर्ण्य रागोऽपि विरज्येत् अस्मद्-वीर-रस-कवितां च आकलय्य म्रियमाणोऽपि युद्धे उत्तिष्ठेत्। यस्य भाग्ये चिरावस्थायिनी कीर्तिः, समुद्रकल्लोलघात-सहं च यशः स एव अस्मान् आद्रियते। न वयं मीनानिव पीनान्, इभान् इव तुन्दिभान्, भेकानिव निर्विवेकान्, वृषदंशकानिव कपट-हिंसकान्, काकानिव आस्वादित-दुर्विपाकान् बलीमुखान् इव चञ्चल-मुखान्, शृगालानिव कलित-धूर्त्तता-मालान्, द्विजिह्वानिव च द्विजिह्वान्, सजीवानिव उपवर्हान् आत्मस्तुतिमात्र-रुचीन्, मूर्तिमत इवाभिमानान्, विद्या-शून्यान्, गुणि-गण-गुण-गृहणासमर्थान्, मिथ्या-मोद-रतान्, वाराङ्गना-व्रात-चरणपाताघात-सहान्, मद्य-कीटान्, द्यूतनन्यभक्तान्, नृपस्नन्यान्, स्वप्नेऽपि समुपास्महे। दिल्लीश्वर-पद-विडम्बनमपि चाहं तादृशेष्वेव अन्यतमभवगत्य क्षणेनैव तत्सम्बन्ध-सूत्रं त्रोटयित्वा रसिकान्तरं कमपि वीरमन्विष्यन् दक्षिणा दिशं प्रस्थितोऽस्मि। पथि च आमेर-देशाधीशेन बहुशः प्रार्थ्यमानोऽपि स तस्यैव दिल्ली-वलय-कलङ्कस्य लोलाटिक इत्यवगत्य

सुनकर विषय की अभिलाषा भी वैराग्य धारण कर लेती है। हमारी वीर रसकी कविता को सुनकर मरते हुए लोग भी लड़ाई में उठ खड़े होते हैं। जिसके भाग्य में चिरकाल तक स्थिर रहनेवाली कीर्ति है और समुद्र तक फैला हुआ यश होता है वही हम लोगों का सत्कार करता है। हम लोग मछली जैसे मोटे, हाथी जैसे तोंदवाले, मेंढ़कों जैसे विचारहीन, बिल्ली के समान कपटाचारी, कौवे के समान अखाद्यभक्षी, बन्दरों के समान चंचल मुखवाले, गीदड़ों के समान धूर्त, सांपों के समान दुष्ट, मोटी वुद्धि वाले, अपनी ही प्रशंसा चाहनेवाले, अभिमान की मूर्ति, विद्याहीन, गुणियों का गुण ग्रहण करने में असमर्थ, झूठे आनन्द में लीन, वेश्याओं के पैरों की चोट सहन करने वाले, शराब के कीड़े और जुए के अनन्य भक्त, नीच राजाओं की स्वप्न में भी प्रशंसा नहीं करेंगे। ऐसों में दिल्लीपति के पद को भी विडम्बित करनेवाले श्रेष्ठ हैं—ऐसा जानकर क्षणमात्र में ही उससे सम्बन्ध तोड़कर किसी दूसरे काव्यरसिक वीर की खोज करता हुआ दक्षिण दिशा की ओर आया हूँ। मार्ग में आमेर के राजा ने बहुत प्रार्थना की किन्तु वह भी उसी दिल्ली के कलंक का सेवक है—ऐसा जानकर और महाराज वीर शिवाजीकी कीर्ति

शिववीर-कीर्तीश्च श्रावं श्रावं कर्णयोराकृष्ट इव ततः समायातोऽस्मि, द्रक्ष्यामि किं भावि—'

इति वक्तारं कमपि कवित्यक्त-दिल्लीश-द्वारं निजं दिदृक्षुमत्र आगतम् ऊरीकृत्य पुनः परिक्रम्य, द्वारमार्गेण मन्दिरं प्रविश्य, शिवं प्रणम्य, घण्टामाहत्य, बिल्व-दलमुत्थाप्य, नेत्रयोः संस्पर्श्य, शिखायां संस्थाप्य, मृत्तिकाशरावस्थं भस्म अलिके विलिप्य, प्रदक्षिणा-च्छलेन पान्थाध्युषित-प्रदेशमागत्य तेनालपन्तं शिवमन्दिराध्यक्षं प्रणम्य बद्धाञ्जलिः आगन्तुकमपि-'कुतः श्रीमान् ? कः श्रीमान् ?' इति सादरं समपृच्छत् ।

मन्दिराध्यक्षस्तु स्वरेण आकृत्या च तं परिचिन्वन्नपि तन्नियमं संस्मृत्य न तथा अचेष्टत, यथा स विज्ञातः स्यादपरैः ।

शिववीरस्तु तेन सह चिरमालप्य, तस्य वृत्तान्तम्, अवस्थां प्रकृतिं च अवगत्य, चिराय श्रुतचरं 'भूषण' कविरित्यभिधानं च उररीकृत्य 'श्वो द्रष्टा भवान् शिवराजम्' इत्यभिधाय न्यवर्त्तिष्ट ।

सुन-सुनकर मेरे कान इसी ओर मानो खिच से गए और मैं यहाँ चला आया हूँ । देखूँ क्या होता है ।'

ऐसा कहनेवाला कोई कवि है, दिल्ली के बादशाह का दरबार छोड़कर मेरा दर्शन करने आया है ऐसा निश्चय करके शिवाजी फिर लौट पड़े और मन्दिर के द्वार से मन्दिर में पहुँचे । उन्होंने शिवजी को प्रणाम किया, घंटा बजाया, बेलपत्र को उठा कर आंखों से लगाकर शिखा (चुन्दी) में बांध लिया, मिट्टी के कुल्हड़ में रखे हुए भस्म ललाट पर लगाया, प्रदक्षिणा के वहाने जहां राही बैठा हुआ था उस स्थान पर जाकर उसके साथ बातचीत करते हुए मन्दिर के अध्यक्ष को प्रणाम करके आनेवाले से आदरपूर्वक हाथ जोड़कर पूछा—श्रीमान् कहाँ से आये हैं ओर कौन हैं ?

मन्दिर के अध्यक्ष ने उसके स्वर आकृति से उसे पहिचानते हुए भी उसके नियमों को याद करके ऐसा नहीं किया जिससे दूसरे भी उसे पहिचान सकें ।

शिवाजी ने उससे बड़ी देर तक बातें कीं और उसके वृत्तान्त, अवस्था तथा स्वभाव को जान लिया । यह भूषण नामक कवि है जिसे मैंने बहुत पहले सुना है —ऐसा निश्चय करके शिवाजी ने कहा कि आप कल प्रातःकाल शिवाजी का दर्शन करेंगे । इसके परचात् वह वहाँ से लौट पड़े ।

निवर्त्तमानश्च तेनापि—'को भवान्' इति पृष्टः 'एतद्देशीयः कोऽपि वीरोऽस्मि' इत्युदतीतरत्।

प्रातरेव च नित्यनियमाद् निर्वर्त्य स्वेष्ट-जन-सहितः सभा-संस्थ एव स्वभृत्येन भूषणकविमाकारयत्।

स तु बद्ध-महोष्णीषः, पादाग्रपर्यन्त-विलम्बमान-कञ्चुकः, नारिकेल-फल-सार-सहितं यज्ञोपवीत-युगलं हस्ते आदधानः द्वारपाल-दर्शितेन पथा सभां प्रविश्य 'विजयतां महाराजः' इति सिंह-गर्जनमवधीरयता स्वरेण उच्चैः उच्चार्य, स्वोपहारं महाराजहस्ते अर्पयत्।

निर्दिष्ट-स्थाने उपविश्य च स एवायं पूर्वदृष्टो वीर इति निरीक्ष्य, 'अहो वीरो वीरो वीरः। वीरमेवान्विष्यन् दिल्लीतः इतो यावत् समायातोऽस्मि, वीरमेव च प्राप्तवानस्मि। विजयतां धर्मोद्धारण-धीरः, सपत्नोत्सारण-समीरः, वीरो महाराज' इत्युदीर्य किञ्चित् स्मयमानस्य महाराजस्य मुखम् अवलोकयन् तत् प्रशंसायां वीर-रसमयीं कवितामेकामपठत्।

लौटते समय शिवाजी से आगन्तुक ने भी पूछा—आप कौन हैं। शिवाजी ने कहा मैं इसी देश का कोई वीर हूँ।

प्रातःकाल ही दैनिक कृत्यों को पूर्ण करके अपने इष्ट लोगों के साथ सभा में बैठकर अपने सेवक द्वारा शिवाजी ने भूषण कवि को बुलवाया।

बहुत ऊँची पगड़ी बाँधे हुए, पैरों तक लटकता हुआ, कंचुक पहिने हुए, गरी का गोला और जनेउ हाथ में लिए हुए भूषण कवि ने द्वारपाल द्वारा बताए गए मार्ग से सभा में प्रवेश किया और सिंह के गर्जन को भी तुच्छ बनानेवाले अपने गम्भीर स्वर से कहा—महाराज की जय हो! तथा अपना उपहार महाराज के हाथ में रख दिया।

निश्चित आसन पर बैठकर उसने देखा कि यह तो वह वही पहले का देखा हुआ वीर है, वही वीर है, हाँ वही वीर है। मैं वीर की खोज करता हुआ ही दिल्ली से यहाँ आया हूँ और मुझे वीर ही मिल भी गया है। धर्म के उद्धार करने वाले, शत्रु को वायु के समान उड़ा देनेवाले महाराज वीर शिवाजी आपकी जय हो! ऐसा कहकर कुछ मुसकराते हुए महाराज के मुख को देखकर भूषण ने उनकी प्रशंसा में एक वीररसपूर्ण कविता सुनायी।

महाराजस्तु—'साधु-साधु' इति व्याहृत्य पुनः पठितुम् आज्ञप्तवान्।
ठितवति च तस्मिन् सर्वेषु प्रसन्नेषु पुनरप्यादिशत्। एवं विंशतिवारं
त सा व्रज-भाषामयी 'कवित्वकाम' नामिका वृत्तिः अपाठि। महा-
जेन च तस्मै गजानां विंशतिः वितीर्णा, इत्यद्यापि प्रसिद्धं कविता-
सिकानां मण्डले।

इति गद्यभागः समाप्तः।



महाराज ने 'साधु, साधु ऐसा कहकर पुनः सुनाने की आज्ञा दी। उस
कविता के सुनाने पर सभी प्रसन्न हो उठे। महाराज ने फिर सुनाने की आज्ञा
दी। इस प्रकार उसने व्रजभाषा की वह कवित्त नामवाली कविता बीस बार
सुनाई। महाराज ने उसे बीस हाथी दान दिये। आज भी काव्य-रसिकों में यह
बात प्रसिद्ध है।

—:o:—

महाराजस्तु—'साधु-साधु' इति व्याहृत्य पुनः पठितुम् आज्ञप्तवान्। पठितवति च तस्मिन् सर्वेषु प्रसन्नेषु पुनरप्यादिशत्। एवं विंशतिवारं तेन सा व्रज-भाषामयी 'कवित्वकाम' नामिका वृत्तिः अपाठि। महाराजेन च तस्मै गजानां विंशतिः वितीर्णा, इत्यद्यापि प्रसिद्धं कविता-रसिकानां मण्डले।

इति गद्यभागः समाप्तः।



महाराज ने 'साधु, साधु ऐसा कहकर पुनः सुनाने की आज्ञा दी। उस कविता के सुनाने पर सभी प्रसन्न हो उठे। महाराज ने फिर सुनाने की आज्ञा दी। इस प्रकार उसने व्रजभाषा की वह कवित्त नामवाली कविता बीस बार सुनाई। महाराज ने उसे बीस हाथी दान दिये। आज भी काव्य-रसिकों में यह बात प्रसिद्ध है।

—:o:—

पद्यभागः

वैदिकस्तुतयः

(ऋग्वेदः)

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥
अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥
अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे । यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥
स नः पितेव सूनवे अग्ने सूपायनो भव । सचस्वानः स्वस्तये ॥ ४ ॥
अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ ५ ॥

ऋग्वेद

हे अग्नि देवता आप ही हमारे यज्ञ के पुरोहित (यज्ञ के प्रधान अधिष्ठाता), देवता, ऋत्विज् (यज्ञ करनेवाले), होता और सभी रत्नों को धारण करनेवाले हैं अतः मैं आपको भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

हे अग्निदेव ! आप पूर्वकालीन ऋषियों से वन्दनीय हैं और नवीन ऋषि भी आपकी वन्दना करते हैं। आप ही हमारे यज्ञमें देवताओंको ले आनेवाले हैं ॥ २ ॥

हे अग्निदेव ! आप ही के द्वारा यजमान दिन-दिन बढ़नेवाले वैभव और वीरों को प्राप्त होनेवाले यश को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

हे अग्निदेव ! जैसे पिता हर समय पुत्र के पास रहकर उसका पालन करता है उसी प्रकार आप भी मेरे कल्याण के लिये अच्छे पदार्थों के देनेवाले और सर्वदा मेरे पास रहने वाले बनें ॥ ४ ॥

हे अग्निदेव ! आप हम लोगों के सभी कर्मों को जानते हैं अतः आप हम लोगों को वैभव प्राप्त कराने के लिए अच्छे मार्ग पर ले चलें और हम से लड़नेवाले इस पाप को नष्ट करें। हम बार-बार आपको नमस्कार करते हैं ॥ ५ ॥

(शुक्लयजुर्वेदः)

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥ ६ ॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ ७ ॥
असूर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ८ ॥
यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥ ९ ॥
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १० ॥

शुक्ल यजुर्वेद

व्यापक प्रकृति के गर्भ में स्थित इस सारे जगत के भीतर और बाहर उसी ईश्वर का निवास है । अतः हे मनुष्यो ! तुम उस जगत का त्याग-पूर्वक उपभोग करो और किसी के धन के प्रति लोभ मत रखो ॥ ६ ॥

हे मनुष्यो ! इस संसार में कर्म करते हुए ही तुम्हें सौ वर्ष तक जीवित रहने की अभिलाषा करनी चाहिये । इस प्रकार कर्म करते हुए ही तुम में कर्म लिप्त नहीं होंगे । इसके अतिरिक्त कर्म की आसक्ति से बचने का और कोई मार्ग ही नहीं है ॥ ७ ॥

जो व्यक्ति अपना वध करने वाले होते हैं वे मरने के पश्चात् उन योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं जो अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित होती हैं और जिनमें आसुरी भावों की स्थिति होती है ॥ ८ ॥

जो मनुष्य जगत के समस्त भूतों को अपनी आत्मा में ही देखता है, इस प्रकार आत्मा और जगत की एकता का अनुभव करनेवाले उस व्यक्ति को न तो मोह हो सकता है न शोक ही ॥ ९ ॥

सोने के पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है प्रलोभनों के कारण ज्ञान आच्छादित हो गया है इसलिए तुम उस सत्य धर्म (ज्ञानमय ईश्वरत्व) का देखने के लिए उस ढक्कन को हटा दो अर्थात् प्रलोभनों से रहित होकर ही ज्ञान तत्त्व ईश्वर को देख सकते हो ॥ १० ॥

(सामवेदः)

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । निहोता सत्सिबर्हिषि ॥ ११ ॥
उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १२ ॥
शं नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये । शं योरभिस्रवन्तु नः ॥ १३ ॥

पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया ।
पाति गीर्भिस्तिसृभिरूर्जांपते पाहि चतसृभिर्वसो ॥ १४ ॥
प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः ।
विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्तास इन्धते ॥ १५ ॥

(अथर्ववेदः)

वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १६ ॥

सामवेद

हे अग्निदेव ! आप सबसे बन्दनीय है, अतः आप हमारे यज्ञ में होता रूप में सर्वत्र प्रकाश फैलाने और हवनीय पदार्थों को देवताओं को देनेके लिए आएँ ॥११॥

से अग्निदेव ! जिस प्रकार प्रकाश को उत्पन्न करने वाले सूर्य को संसार के सभी लोगों के दिखाने के लिए उसकी किरणें उसी प्रकाश रूप सूर्य को धारण करती हैं उसी प्रकार आप भी अपने को प्रकाशित करने के लिए अपने को अर्चियों (लपटों) के रूप में प्रकट करो ॥१२॥

हे जलरूप अग्निदेव ! आपकी वह दैवी शक्तियाँ हमारी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए हमारी परितृप्ति के लिए और हमारे कल्याण के लिए कल्याण की वृष्टि करे ॥ १३ ॥

हे बल और धन के स्वामी अग्निदेव ! आप अपनी एक कला (ऋक्) से मेरी रक्षा करें। आप अपनी दूसरी कला (युजुः) से मेरी रक्षा करं । आप अपनी तीसरी कला (साम) से मेरी रक्षा करें और आप अपनी चौथी कला (अथर्व) से मेरी रक्षा करें ॥ १४ ॥

समस्त मरणधर्मा (मरनेवाले) मनुष्य जिस अमर अग्नि में हवन करते हैं, लोगों के प्रिय उस अतिथि रूप अग्नि की प्रातःकाल स्तुति करनी चहिए ॥१५॥

अथर्ववेद

जो मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओं में होते हुए संसार के सभी रूपों का

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ १७ ॥
इहैवाभि वितनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ १८ ॥
उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विरोधिषि ॥ १९ ॥
अन्वयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ २० ॥

प्रगति-प्रशंसा

(ऐतरेयब्राह्मणस्य त्रयस्त्रिंशाध्यायात्)

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा ॥ १ ॥

निर्माण करते हुए घूमते रहते हैं, आज वाणी के स्वामी उनके शरीर के समस्त बल को मेरे शरीर में प्रदान करें ॥ १९ ॥

हे वाणी के स्वामी! दिव्य मन के साथ ही आइए और हे वस्तुओं के पति! मुझे आनन्दित करो और पढ़ा हुआ ज्ञान मुझ में स्थिर रहे ॥ १७ ॥

जिस प्रकार डोरी से धनुष की दोनों कोटियां तनी रहती हैं (कार्य करने में समर्थ होती हैं) उसी प्रकार यहां भी गुरु और शिष्य दोनों (विद्यारूपी डोरी से) सज्जित रहें, वाणी के स्वामी मुझ में विद्या प्रदान करें और विद्या मुझ में स्थिर रहे ॥ १८ ॥

हमसे वाणी के स्वामी बुलाए जायँ और वाणी के स्वामी हम लोगों को बुलावें। हमलोग ज्ञान के साथ चलें और हम लोग ज्ञान का कभी विरोध न करें ॥

यज्ञकर्ताओं की बहिनों और माताओं के समान जल की नदियां अपने मार्गों से वहती हैं जो मधु के साथ जल मिलाती हैं ॥ २० ॥

प्रगति-प्रशंसा

इन्द्र प्रगति की प्रशंसा करते हुए रोहित से कहते हैं कि—हे रोहित! मैंने सुना है कि परिश्रम न करनेवाले को लक्ष्मी नहीं मिलती। श्रेष्ठ पुरुष भी अपने बंधुओंमें

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥ २ ॥
आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥ ३ ॥
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥ ४ ॥
चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ॥ ५ ॥

आसक्त रहने के कारण पापी है । भ्रमण करने वाले (प्रगतिशील) पुरुष का सहायक इन्द्र होता है ॥ १ ॥

पर्यटन करने वालों की जांघें पुष्पिणी कही जाती हैं (अर्थात् भ्रमण करने के कारण समर्थ होकर प्रशंसा का पात्र बन जाती हैं) ऐसे पुरुषों की आत्मा उन्नत हो कर स्वास्थ्य आदि फलों को प्राप्त कर लेती है तथा उसके सभी पाप उत्तम तीर्थादि मार्गों में भ्रमण करने के परिश्रम से नष्ट होकर सो से जाते हैं ॥ २ ॥

बैठे हुए पुरुष का भाग्य बैठ जाता है, खड़े होने वाले का भाग्य उठ खड़ा होता है और भूमि में सोने वाले का भाग्य सो जाता है किन्तु भ्रमण करने वाले का भाग्य प्रतिदिन बढ़ता जाता है ॥ ३ ॥

सोने वाला पुरुष कलियुग के समान (तुच्छ) होता, करवट बदलने वाला पुरुष द्वापर के समान (मध्यम श्रेणी का) होता है, उठ खड़ा होने वाला पुरुष त्रेता के समान (उत्तम) होता है किन्तु भ्रमण करने वाला सत्ययुग के समान (सर्वोत्तम) होता है ॥ ४ ॥

भ्रमण करने वाला व्यक्ति मधु तथा स्वादिष्ट गूलर का फल प्राप्त करता है । जो सूर्य चलने में कभी आलस्य नहीं करता, उसकी श्रेष्ठता को देखो । अर्थात् सूर्य जैसे निरन्तर भ्रमण से ही श्रेष्ठ माना जाता है उसी प्रकार निरन्तर भ्रमण करने से तुम भी श्रेष्ठ हो जाओगे ॥ ५ ॥

उपनिषद्वचनामृतम्

नचिकेत–उपाख्यानम्

(यजुर्वेदीयकठोपनिषदः प्रथमाध्यायस्य प्रथमा वल्ली)

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस। तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश।

सोऽमन्यत—

पीतोदका जग्ध–तृणा दुग्ध–दोहा निरिन्द्रियाः।
आनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददद् ॥ १ ॥
स होवाच पितरं तत् कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ २ ॥
बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किं स्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ३ ॥

उपनिषद की अमृत वाणी

नचिकेत की कथा

वाजश्रवा ने यज्ञ-फल की इच्छा से अपना सारा धन दे दिया। उसे नचिकेता नाम का एक पुत्र था। जिस समय दक्षिणाएँ (दक्षिणा में दी गई गाएँ) ले जायी रही थीं उस समय यद्यपि वह कुमार था फिर भी उसके मन में श्रद्धा हुई। उसने विचार किया—

जो जल पी चुकी हैं, जो घास था चुकी हैं, जिनका दूध भी दूह लिया गया है, जो इन्द्रिय रहित हो चुकी हैं (अर्थात् जो बच्चा भी नहीं दे सकतीं। कहने का तात्पर्य जो बुढ्ढी हो गयीं हैं और किसी काम की नहीं हैं) ऐसी गायों को देने वाला आनन्द रहित लोक (नरक) में जाता है ॥ १ ॥

उसने अपने पिता से कहा—हे तात ! आप मुझको किसे दीजिएगा। इस प्रकार उसने दूसरी और तीसरी बार भी कहा। तब उसके पिता ने कहा—मैं तुम्हें मृत्यु को दूँगा ॥ २ ॥

मैं बहुत से पुत्रों में आगे रहकर चलता हूँ अर्थात् श्रेष्ठ हूँ और बहुतों के मध्य रहकर मध्यम वृत्ति का व्यवहार करता हूँ (अर्थात् नीच वृत्ति का तो मैंने कभी अनुसरण ही नहीं किया) यमराज का ऐसा कौन-सा कार्य है जिसे आज मेरे द्वारा सिद्ध करेंगे ॥ ३ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य यथा परे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव जायते पुनः ॥ ४ ॥
वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ५ ॥
आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥६॥
तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥
शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्यात् वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीतः एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ ८ ॥

जिस प्रकार पहले के लोग व्यवहार करते थे उसे देखो तथा उसके बाद के लोग जैसा व्यवहार करते हैं, उसे भी देखो। मनुष्य खेती की तरह पकता है (बुड्ढा होकर मर जाता है) और फिर खेती की भांति उत्पन्न हो जाता है। (अतः आप मुझे यम के पास भेजकर अपने वचन का पालन कीजिए ॥ ४ ॥

(जब नचिकेता यमलोक में पहुंचा तो यमराज थे नहीं। वह तीन रात तक यम के यहाँ ठहरा रहा। जब यमराज आए तो उसके मन्त्रियों ने उससे कहा—) ब्राह्मण अतिथि अग्नि का रूप धारण करके ही घरों में प्रवेश करता है। इसीलिए सज्जन (अर्घ्य आदि से) उसकी शान्ति करते हैं अतः हे यमराज! (इस अतिथि की शान्ति के लिए) जल ले जाइए ॥ ५ ॥

जिसके घरमें ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किए रहता है उस मूर्ख पुरुष की सभी आशाएँ' इच्छायें, उससे प्राप्त होने वाले फल, प्रिय वाणी के फल, यज्ञादि से प्राप्त होने वाले फल, बाग-बगीचे लगानेसे होने वाले फल और पुत्र तथा पशु आदि सभी उसके द्वारा नष्ट कर दिए जाते हैं ॥ ६ ॥)

(मन्त्रियों के समझाने पर यमराज ने नचिकेता से जाकर कहा) हे ब्राह्मण तुम्हे नमस्कार है। मेरा कल्याण करो। तुम बन्दनीय अतिथि होकर भी मेरेघर में तीन रात तक बिना भोजन किए रुके रहे इसलिए मुझ से तीन वर मांग लो ॥ ७ ॥)

इस पर नचिकेता ने कहा—हे यमराज! मैं उन तीन बरों में से पहला वर यह माँगता हूँ कि मेरे पिता मेरे प्रति शान्त-संकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायँ। तथा आपके भेजने पर मुझे पहिचानकर बातचीत करें ॥८ ॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीतः औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥९॥
स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाऽशनाया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १० ॥
स त्वमग्निं स्वर्गमध्येपि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ ११ ॥
प्रते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानम् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥ १२ ॥
लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद् यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १३ ॥

यमराजने कहा—तेरा पिता पहिले ही जैसा स्नेहयुक्त होकर तेरे प्रति विश्वस्त होगा और वह क्रोधरहित होकर तुझे मृत्यु के मुख से छूटा हुआ देखकर रात को सुखपूर्वक सोएगा ॥ ९ ॥

नचिकेता ने कहा—हे मृत्यु ! स्वर्गलोक में कोई भी भय नहीं है । वहाँ न तुम हो (अर्थात् वहाँ कोई नहीं मरता), न कोई बुढ़ापे से डरता है । उस स्वर्ग लोक में पुरुष भूख-प्यास दोनों से मुक्त होकर शोक से रहित हो आनन्द प्राप्त करता है ॥१०॥

हे मृत्यु ! तुम उस स्वर्ग लोक में जाने के साधन अग्नि को जानते हो । उसे मुझ श्रद्धालु के लिए बताओ जिसके द्वारा स्वर्गलोक के लोग अमरता पा जाते हैं यह (अग्नि.ज्ञान) मैं दूसरा वर मांग रहा हूं ॥ ११ ॥

यमराज ने कहा—हे नचिकेता ! मैं उस स्वर्गको देनेवाले अग्नि को भलीभांति जानता हूं । वह अनन्त लोक का प्राप्ति कराने वाला, विराट् संसार का आधार और बुद्धिमान पुरुषों की बुद्धि में स्थिर रहने वाला है । मैं उसे तुम्हें बता रहा हूं तुम उसे भलीभांति जान लो ॥ १२ ॥

तब यमराज ने लोकों के आदिकारण उस अग्नि को तथा उसके चयन करने में जैसी और जितनी ईंटें होती हैं और जैसे उसका चयन किया जाता है, नचि-केता से बता दिया और नचिकेता ने मृत्यु के कहे अनुसार सब सुना दिया तब प्रसन्न सोकर मृत्यु ने फिर कहा ॥ १३ ॥

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १४ ॥
त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्म यज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १५ ॥
त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वान् चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १६ ॥
एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१७॥
येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ १८ ॥
देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।

महात्मा मृत्यु ने प्रसन्न होकर उससे कहा—मैं तुम्हे फिर एक वर और दे रहा हूँ यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगा और तुम इस अनेक रूपों वाली माला को ग्रहण करो ॥ १४ ॥

तीन वार नचिकेत अग्नि का चयन करने वाला तथा माता पिता और आचार्य के आदेश से यज्ञ, अध्ययन और दान करने वाला पुरुष जन्म और मृत्यु से मुक्त हो जाता है। तथा ब्रह्म से उत्पन्न और ज्ञानपूर्ण स्तुति करने योग्य देवताओं को जानकर और आत्मभाव से अनुभव करके अत्यन्त शांति को प्राप्त कर लेता है ॥

तीन वार नचिकेत अग्नि का चयन करने वाला जो विद्वान् इन तीनों अग्नि ज्ञान (कौन ईटें हों कितनी हों और कैसे चयन किया जाय) को जानकर नचिकेत अग्नि का चयन करता है वह मृत्यु के पहले ही मृत्यु के बन्धनों को तोड़ कर शोकरहित हो स्वर्गलोक में आनन्दित होता है ॥ १६ ॥

हे नचिकेत ! तुमने दूसरे वर द्वारा जिस स्वर्ग देने वाले अग्निज्ञान को मांगा था उसे मैंने बता दिया। लोग इस अग्नि को तुम्हारा ही कहेंगे। अब तुम तीसरा वर मांगो ॥ १७ ॥

नचिकेता ने कहा—मनुष्य के मरने पर ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि कुछ लोग कहते हैं कि वह आत्मरूप में रहता है और कुछ लोग कहते हैं नहीं रहता है। आप से शिक्षित मैं यह जानना चाहता हूँ। यह मेरा तीसरा वर है ॥१८॥

यमराज ने कहा—पूर्वकाल में इस विषय में देवताओं को भी सन्देह हुआ था।

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मामोपरोत्सीरतिमा सृजैनम् ॥ १९ ॥
देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं स मृत्यो यन्न सविज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २० ॥
शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्ति–हिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २१ ॥
एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकाञ्च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २२ ॥
ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्याः नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ॥ २३ ॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ।
श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ॥ २४ ॥

यह सूक्ष्म धर्म सरलता से नहीं जाना जा सकता । हे नचिकेत ? तुम दूसरा वर माँगो । मुझे रोको मत । मेरे लिए इस वर को छोड़ दो ॥ १९ ॥

नचिकेता ने कहा—हे मृत्यु ! इस विषय में निश्चय ही देवता लोग भी सन्देश में पड़े थे और तुम भी इसे सरलता से जानने योग्य नहीं बता रहे हो । किन्तु इस धर्म का बताने वाला भी तो तुम्हारे अतिरिक्त और कोई नहीं है और इसके समान दूसरा कोई वर भी तो नहीं है ॥ २० ॥

यमराज ने कहा—हे नचिकेत ! तुम सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र-पौत्र, बहुत से पशु हाथी, सोना और घोड़े माँग लो, सम्पूर्ण पृथ्वी माँग लो और जितने वर्ष तुम्हारी इच्छा हो जीवित रहो ॥ २१ ॥

इसके समान यदि तुम और कोई वर समझते हो तो उसे अथवा धन तथा सब समय रहने वाली जीविका माँग लो । हे नचिकेत ! तुम इस विस्तृत पृथ्वी में वृद्धि को प्राप्त करो । मैं तुम्हें विषयों को इच्छानुसार भोगने वाला बना देता हूँ ॥ २२ ॥

मनुष्य लोक में जितने दुर्लभ भोग हैं, उन्हें तुम स्वच्छन्दतापूर्वक माँग लो यहाँ रथ और बाजों के साथ यह सुन्दरियाँ हैं, ऐसी स्त्रियाँ मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकते ॥ २३ ॥

मुझ से दी गई इन स्त्रियों से तुम अपनी सेवा कराओ किन्तु हे नचिकेत ! तुम मृत्यु-सम्बन्धि प्रश्न मत पूछो । इस पर नचिकेता ने कहा—ये भोग कल रहेंगे या नहीं तथा ये सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को विनष्ट कर देते हैं ॥ २४ ॥

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ॥ २५ ॥
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव।
अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् ॥ २६ ॥
अभिध्यायन् वर्णरति प्रमोदान् अतिदीर्घे जीविते को रमेत।
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ॥ २७ ॥
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नायं तस्मात् नचिकेता वृणीते।

—:o:—

वाल्मीकिः

(ई० पू०—६००)

सदूषणाऽपि निर्दोषा सखराऽपि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ॥ (त्रिविक्रमः)

अयं महाकविः 'आदिकविरि'ति गीयते। वाल्मीकीय-रामायणञ्च लौकिक-साहित्यस्य आदिकाव्यम्। दृश्यते तत्र सर्गान्ते 'श्री आदिकाव्ये' इति प्रयोगः। कथ्यन्ते नु निषाद-विद्ध-क्रौञ्च-द्वन्द्ववियोगेन जनितं क्रौञ्चीकारुण्यमवलोक्य समुत्पन्नः शोक एव रामायण-रचनाधारभूत इति—

इसके अतिरिक्त यह जीवन भी तो क्षणिक है। तुम्हारे वाहन और नाच-गान तुम्हारे ही रहें। मनुष्य धन से तृप्ति नहीं किया जा सकता। जब मैंने तुम्हें देख लिया तो धन मिल ही जायगा ॥ २५ ॥

आप जब तक शासन करते रहेंगे तब तक मैं जीवित ही रहूँगा। किन्तु मेरा प्रार्थनीय वर तो वही है। क्योंकि जरा और मृत्यु से रहित देवताओं के लोक में पहुँचकर कौन ऐसा होगा जो जराग्रस्त होकर मृत्यु लोक में रागात्मक सुखों की अभिलाषा करता हुआ क्षणिक जीवन में रहना चाहेगा ॥ २६ ॥

हे मृत्यु ! जिसके विषय में लोग संदेह करते हैं और परलोक के संबंध में जो निश्चत महान आत्मज्ञान है वह मुझसे कहिए। यहाँ जो अत्यन्त रहस्यमय और अगम्य वर है उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वर नचिकेता नहीं माँगता ॥ २७ ॥

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी
मुनिः कुशेध्माहरणाय जातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ (कालिदासः)

रामचरितप्रतिपादकं सर्गबद्धं महाकाव्यमेतत् । इदञ्च सप्तकाण्डात्मकम् । चतुर्विंशतिसहस्रं पञ्चशतसर्गयुतम् । एतस्य वर्णनशैली कमनीयकाव्यकलापा आदर्शभूता । अनुप्रासोपमादीनां शब्दार्थालङ्काराणां तु निधिरेव । करुणरसप्रधानम् ।

नास्ति संस्कृतसाहित्यस्य सुप्रसिद्धः कोऽपि महाकविः येन नानुकृतमेतद् ग्रन्थरत्नमिति ।

मूलरामायणम्

तपःस्वाध्याय-निरतं तपस्वी वाग्विदां वरम् ।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥
को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥ २ ॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकः प्रियदर्शनः ॥ ३ ॥
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः ।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥ ४ ॥

मूलरामायण

तपस्या और स्वाध्यायमें लगे हुए, बोलनेवालों में श्रेष्ठ तथा मुनियों में महान नारदजीसे तपस्वी वाल्मीकि ने पूछा ॥ १ ॥

इस समय इस संसार में कौन व्यक्ति गुणी, पराक्रमी, धर्मात्मा, कृतज्ञ, सत्यवादी और दृढव्रती है ॥ २ ॥

कौन उत्तम चरित्रवाला है ? संपूर्ण प्राणियों का मंगल चाहने वाला कौन है ? तथा विद्वान्, शक्तिशाली और एक मात्र सुन्दर कौन है ? ॥ ३ ॥

आत्मज्ञानी, क्रोध को जीतने वाला, तेजस्वी और असूया-रहित कौन है ? तथा क्रुध होने पर देवता भी किससे डरते हैं ? ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
महर्षे! त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ॥ ५ ॥
श्रुत्वा चैतत् त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥
बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥ ७ ॥
इक्ष्वाकुवंश-प्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी ॥ ८ ॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिवर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥ ९ ॥
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥ १० ॥
समः सम-विभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।

हे महर्षि ! मुझे बड़ा कौतूहल है मैं इसे सुनना चाहता हूँ । इस प्रकार के मनुष्य को जानने में तुम्हीं समर्थ भी हो ॥ ५ ॥

तीनों लोक की बात जानने वाले नारद जी वाल्मीकि की इन बातों को सुनकर अत्यंत प्रसन्न हुए और सुनो—ऐसा कहकर बोले ॥ ६ ॥

हे मुनि ! तुमने जिन बहुत से दुर्लभ गुणों को कहा है उससे युक्त मनुष्य को मैं समझ कर कह रहा हूँ, सुनो ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न और राम नाम से विख्यात एक पुरुष हैं जो आत्मसंयमी, महान पराक्रमी, तेजस्वी, धैर्यशाली और इन्द्रियों को वश में करने वाले हैं ॥ ८ ॥

वह बुद्धिमान, नीतिज्ञ, वाक्पटु, वैभवशाली, शत्रुओं का नाश करने वाले, महान कंधे वाले, लंबी भुजा वाले, शंख के समान गले वाले तथा पुष्ट दाढ़ी (चिबुक) वाले हैं ॥ ९ ॥

वह लंबी-चौड़ी छाती वाले, महान धनुषवाले, छिपी हुई हंसुलियों वाले, शत्रु का दमन करने वाले, आजानुबाहु, सुन्दर शिर और ललाट वाले तथा अच्छे पराक्रमी हैं ॥ १० ॥

उनके शरीर के समस्त अंग सुगठित और कोमल रंग वाले हैं, वे बड़े ही

पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवान् शुभ-लक्षणः ॥ ११ ॥
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञान-सम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥ १२ ॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपु-निषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥ १३ ॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
वेद-वेदाङ्ग-तत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥ १४ ॥
सर्व-शास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।
सर्व-लोक-प्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥ १५ ॥
सर्वदाऽभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥
स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥ १७ ॥

प्रतापी, चौड़ी छाती वाले, बड़ी बड़ी आखों वाले कान्तिमान तथा शुभ लक्षणों से युक्त हैं ॥ ११ ॥

वे बड़े ही धर्मात्मा, सत्यप्रतिज्ञा वाले, प्रजा की भलाई में लगे रहने वाले, यशस्वी, ज्ञानी, स्वच्छ व्यवहार वाले, संयमी और स्थिर चित्त वाले हैं ॥ १२ ॥

वह प्रजापति के समान वैभवशाली तथा प्रजा का पोषण करनेवाले, शत्रुओं का नाश करने वाले तथा संपूर्ण प्राणियों और धर्म की रक्षा करने वाले हैं ॥ १३ ॥

वह अपने धर्म और स्वजनों के रक्षक है, वेद और वेदांग के तत्त्वों को जानने वाले हैं तथा धनुर्वेद में भी कुशल हैं ॥ १४ ॥

वह संपूर्ण शास्त्रों के अर्थ और तत्त्व को जानने वाले, स्मरणशील और प्रतिभाशाली हैं। उन्हें सभी लोग चाहते हैं। वह अत्यन्त सज्जन, तेजस्वी और चतुर हैं ॥ १५ ॥

जैसे समुद्र के पास सभी नदियाँ जाती हैं, उसी प्रकार सज्जन भी उनके पास जाते हैं। वह आर्य हैं, सबकों समान समझते हैं और सदैव देखने में प्रिय लगने वाले हैं ॥ १६ ॥

कौशल्या के आनंद को बढ़ाने वाले, सभी गुणों से युक्त वह राम गंभीरता में समुद्र के समान धैर्य में हिमालय के समान हैं ॥ १७ ॥

राम-हनूमत्संवादः
(वाल्मीकिरामायणात्)
(ई० पू०—६००)

[इमे श्लोकाः आदिकवेः वाल्मीकेः रामायणस्य उत्तर-काण्डात् संगृहीताः। अयोध्यां प्राप्य रामः सुग्रीवादीन् वानरान् विभीषणादीन् राक्षसान् च अयोध्यातः परावर्त्तयति। तस्मिन्नेवावसरे हनूमान् रामं प्रति ब्रूते।]

तेषामेवं ब्रुवाणानां वानराणां च रक्षसाम्।
हनूमान् प्रणतो भूत्वा राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
स्नेहो मे परमो राजन्! त्वयि तिष्ठतु नित्यदा।
भक्तिश्च नियता वीर! भावो नान्यत्र गच्छतु ॥ २ ॥
यावद्रामकथा वीर! चरिष्यति महीतले।
तावत् शरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः ॥ ३ ॥
यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथां ते रघुनन्दन!।
तन्ममाप्सरसो राम! श्रावयेयुर्नरर्षभ! ॥ ४ ॥
तच्छ्रुत्वाऽहं ततो वीर! तव चर्यामृतं प्रभो!।
उत्कण्ठां तां हरिष्यामि मेघलेखामिवानिलः ॥ ५ ॥

राम तथा हनुमान की बातचीत

इस प्रकार से वार्त्तालाप करते हुए उन राक्षसों और बंदरों के बीच में से हनूमानजीने शिर झुका कर रामचन्द्र जी से कहा ॥ १ ॥

हे राजन्! मेरा प्रेम नित्य ही तुम्हारे ऊपर बना रहे, मेरी भक्ति नियमपूर्वक तुम में स्थिर रहे तथा मेरा भाव दूसरी जगह न जाय अर्थात् मेरा मन तुम्हीं में रमा रहे ॥ २ ॥

हे वीर! जब तक यह तुम्हारी कथा पृथ्वी पर प्रचलित रहे तब तक मेरे प्राण मेरे शरीर में निवास करते रहें। इसमें किसी प्रकार का संदेह न हो ॥ ३ ॥

हे नरश्रेष्ठ रामचन्द्रजी! तुम्हारी इस पवित्र कथा तथा चरित्र को अप्सराएँ गाकर मुझे सुनाया करें ॥ ४ ॥

हे प्रभो! हे वीर! मैं तुम्हारे उस पवित्र चरित्र को सुन कर अपनी उत्कंठा उसी प्रकार दूर कर दूँगा जैसे वायु बादलों की घटा देती हैं ॥ ५ ॥

एवं ब्रुवाणं रामस्तु हनूमन्तं वरासनात्।
उत्थाय सस्वजे स्नेहाद्वाक्यमेतदुवाच ह॥ ६॥
एवमेतत्कपिश्रेष्ठ ! भविता नात्र संशयः।
चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका॥ ७॥
तावत्ते भविता कीर्तिः शरीरेऽप्यसवस्तथा।
लोका हि यावत्स्थास्यन्ति तावत्स्थास्यति मे कथाः॥ ८॥
एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥ ९॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥ १०॥
ततोऽस्य हारं चन्द्राभं मुच्य कण्ठात्स राघवः।
वैदूर्यतरलं कण्ठे बबन्ध च हनूमतः॥ ११॥
तेनोरसि निबद्धेन हारेण महता कपिः।
रराज हेमशैलेन्द्रश्चन्द्रेणाक्रान्तमस्तकः॥ १२॥

इस प्रकार कहने वाले हनुमान को राम ने सिंहासन से उठाकर गले लगा लिया और बड़े स्नेह से यह वचन कहा ॥ ६ ॥

हे कपिश्रेष्ठ ! जैसा तुम चाहते हो वही होगा। इसमें कोई भी संदेह नहीं। जब तक यह मेरी कथा संसार में प्रचलित रहेगी तब तक तुम्हारी कीर्ति भी बनी रहेगी और तुम्हारे शरीर में प्राण भी रहेंगे और जब तक लोग रहेंगे तब तक मेरी कथा भी रहेगी ॥ ७-८ ॥

हे कपि ! तुम्हारे एक-एक उपकार के बदले यदि मैं प्राण भी दे दूँ तब भी वे बचे ही रहेंगे और उन बचे हुए उपकारों का मैं ऋणी बना ही रहूँगा ॥ ९ ॥

तुम्हारे किए हुए उपकार मेरे अंगों में जीर्ण हो जावें। क्योंकि मनुष्य आपत्तियों में ही प्रत्युपकारों का पात्र होता है ॥ १० ॥

इसके पश्चात् रामचंद्रजी ने चंद्रमा के समान चमकीले और मध्य में लटकते हुये वैदूर्यमणि से युक्त हार को अपने गले से उतार कर हनुमान के गले में पहिना दिया ॥ ११ ॥

उस हार के गले में बांध देने पर हनुमानजी ऐसे सुशोभित हुए जैसे चोटी पर निकले हुए चंद्रमा से सुमेरु पर्वत सुशोभित होता है ॥ १२ ॥

श्रुत्वा तु राघवस्यैतदुत्थायोत्थाय वानराः ।
प्रणम्य शिरसा पादौ निर्जग्मुस्ते महाबलाः ॥ १३ ॥
सुग्रीवः स च रामेण निरन्तरमुरोगतः ।
विभीषणश्च धर्मात्मा सर्वे ते बाष्प-विक्लवाः ॥ १४ ॥
सर्वे च ते बाष्पकलाः साश्रुनेत्रा विचेतसः ।
सम्मूढा इव दुःखेन त्यजन्तो राघवं तदा ॥ १५ ॥
कृतप्रसादस्तेनैवं राघवेण महात्मना ।
जग्मुः स्वं स्वं गृहं सर्वे देही देहमिव त्यजन् ॥ १६ ॥
ततस्तु ते राक्षसऋक्ष-वानराः,
प्रणम्य रामं रघुवंशवर्धनम् ।
वियोगजाश्रु-प्रतिपूर्ण-लोचनाः,
प्रतिप्रयातास्तु यथानिवासिनः ॥ १७ ॥

—:o:—

इस प्रकार रामचंद्रजी की बातें सुनकर सब बानर उठ-उठ कर राम के चरणों का शिर से स्पर्श कर-कर जाने लगे ॥ १३ ॥

सुग्रीव और धर्मात्मा विभिषण ने राम के गले लगकर भेंट की । उस समय वे सभी आंसू से व्याकुल हो उठे ॥ १४ ॥

उस समय सभी आहें भर रहे थे, सभी की आँखे आंसू से भरी थीं, सभी चेतनाशून्य थे और सभी किंकर्तव्य-मूढ़ हो रहे थे तथा बड़ी कठिनाई से राम को छोड़ रहे थे ॥ १५ ॥

महात्मा राम की कृपा पा कर सभी अपने घर चले उस समय उन्हें ऐसी पीड़ा हुई मानो उनके प्राण ही शरीर से निकल रहे हों ॥ १६ ॥

इस प्रकार वे राक्षस, भालू और बंदर रामचंद्रजी को प्रणाम करके वियोगजन्य आंसू से भरी हुई आँखों से जहाँ-जहाँ के रहने वाले थे वहां-वहां चले गये ॥ १७ ॥

———

सीता-परित्यागः

(वाल्मीकिरामायणस्योत्तरकाण्डात्)

[अत्र अधस्तनेषु श्लोकेषु रामः सीताविषयकं लोकापवादमाकर्ण्य वने सीतां परित्यक्तुं लक्ष्मणमादिशति ।]

जानासि त्वं यथा सौम्य ! दण्डके विजने वने ।
रावणेन हृता सीता स च विध्वंसितो मया ॥ १ ॥
तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना जनकस्य सुतां प्रति ।
अत्रोषितामिमां सीतामानयेयं कथं पुरीम् ॥ २ ॥
प्रत्ययार्थं ततः सीता विवेश ज्वलनं तदा ।
प्रत्यक्षं तव सौमित्रे ! देवानां हव्यवाहनः ॥ ३ ॥
अपापां मैथिलीमाह वायुश्चाकाशगोचरः ।
चन्द्रादित्यौ च शंसेते सुराणां सन्निधौ पुरा ॥ ४ ॥
ऋषीणाञ्चैव सर्वेषामपापां जनकात्मजाम् ।
एवं शुद्ध-समाचारा देवगन्धर्व-सन्निधौ ॥ ५ ॥
लङ्काद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेदिता ।
अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां तपस्विनीम् ॥ ६ ॥

सीता का परित्याग

हे सुशील लक्ष्मण ! तुम जानते ही हो कि दंडक वन में एकान्त में रावण ने जानकी का हरण कर लिया था ।उसे तो मैंने मार डाला ॥ १ ॥

वहाँ सीता के प्रति मैंने ऐसा विचार किया था यहां रहने वाली सीता को मैंने कैसे अयोध्या में ले चलूँ ॥ २ ॥

उस समय तुम्हारे सामने ही देवताओं की आहुति ग्रहण करने वाले अग्नि में मेरे विश्वास के लिए जानकी ने प्रवेश किया था ॥ ३ ॥

अग्नि, आकाशचारी वायु, चन्द्रमा और सूर्य ने जानकी को निष्कलंक कहा था और देवताओं, ऋषियों और गन्धर्वों तथा सबके सामने ऐसी निष्कलंक और पवित्र आचरण वाली जानकी को लंका में इन्द्र ने मेरे हाथों में सौंपा था । मेरा अन्तरात्मा भी यह कहता है कि जानकी पवित्र है ॥ ४-५ ॥

ततो गृहीत्वा वैदेहीमयोध्यामहमागतः ।
अयं तु मे महान् वादः शोकश्च हृदि वर्त्तते ॥ ७ ॥
पौरापवादः सुमहाँस्तथा जनपदस्य च ।
अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् ॥ ८ ॥
पतत्येवाधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ।
अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते ॥ ९ ॥
कीर्त्यर्थं तु समारम्भः सर्वेषां सुमहात्मनाम् ।
अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा भरतर्षभाः ॥ १० ॥
अपवाद-भयाद्भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ।
तस्माद् भवन्तः पश्यन्तु पतितं शोकसागरे ॥ ११ ॥
नहि पश्याम्यहं भूतं किञ्चिद् दुःखमतोऽधिकम् ।
श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे ! सुमन्त्राधिष्ठितं रथम् ॥ १२ ॥
आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते परित्यज ।
गङ्गायास्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः ॥ १३ ॥

इसके पश्चात् मैं जानकी को लेकर अयोध्या लाया था किन्तु नागरिकों और देशवासियों द्वारा लगाया गया यह महान लोकापवाद शोक बनकर मेरे हृदय में प्रवेश कर गया है । जिस किसी व्यक्ति का अपयश संसार में लोगों द्वारा कहा जाता है और जब तक वे शब्द रहते हैं तब तक वह अधर्मलोक में पड़ा रहता है । अपयश देवताओं द्वारा निन्दनीय होता है और यह संसार में पूज्य होता है ॥ ७-९ ॥

सभी महापुरुष कीर्ति के लिए उपाय करते हैं । मैं इस अपवाद के लिए अपने जीवन और तुम लोगों का भी परित्याग कर दूँगा ॥ १० ॥

फिर इस लोकापवाद के भय से जानकी के परित्याग कर देने की बात ही क्या है । तुम लोग देखो तो सही कि मैं कितने शोकरूपी सागर में पड़ा हुआ हूँ ॥ ११ ॥

मैं इससे अधिक दुःख किसी प्राणी में भी नहीं देख रहा हूँ, अतः हे लक्ष्मण ! कल प्रातःकाल सुमन्त्र द्वारा चालित रथ पर बैठकर उसपर जानकी को बिठाकर हमारे देश के बाहर कर दो । गंगा के उस पार तमसा नदी के किनारे महात्मा वाल्मीकि का पवित्र आश्रम है । उसी निर्जन स्थान में सीता को छोड़कर

आश्रमो दिव्यसंकाशस्तमसा-तीरमाश्रितः ।
तत्रैतां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन ! ॥ १४ ॥
शीघ्रमागच्छ सौमित्रे ! कुरुष्व वचनं मम ।
न चास्मि प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथञ्चन ॥ १५ ॥
तस्मात्त्वं गच्छ सौमित्रे ! नात्र कार्या विचारणा ।
अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वयैतत् प्रतिवारिते ॥ १६ ॥
शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च ।
ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतुं कथञ्चन ॥ १७ ॥

—:०:—

सीतायाः पातालप्रवेशः

(रामायणात्)

[अयमंशः वाल्मीकिरामायणस्योत्तरकाण्डाद् गृहीतः । वाल्मीकिना सीतायाः शुद्धत्वस्य लवकुशयोश्च परिचये दत्ते सति रामः वाल्मीकिं ब्रूते] ।

वाल्मीकिनैवमुक्तस्तु राघवः प्रत्यभाषत ।
प्राञ्जलिर्जगतो मध्ये दृष्ट्वा तां वरवर्णिनीम् ॥ १ ॥
एवमेतन्महाभाग ! यथा वदसि धर्मवित् ! ।
प्रत्ययस्तु मम ब्रह्मँस्तव वाक्यैरकल्मषैः ॥ २ ॥

लक्ष्मण तुम शीघ्र ही आओ । मेरी आज्ञा का पालन करो । सीता के लिये अब मुझसे कुछ भी न कहो ॥ १२—१५ ॥

इसलिए हे लक्ष्मण अब तुम जाओ । इस विषय में अब विचार न करो । यदि तुमने इसका विरोध किया तो मुझे बहुत ही अप्रसन्नता होगी ॥ १६ ॥

मैं तुम्हें अपने चरणों और प्राणों की शपथ दिलाकर कहता हूं कि मेरी इस आज्ञा के विषय में किसी प्रकार की प्रार्थना न करना ॥ १७ ॥

—:०:—

सीता का पाताल में चला जाना

वाल्मीकि मुनि के ऐसा कहने पर तथा लोगों के बीच में उस पवित्र जानकी को देखकर रामचन्द्र जी ने हाथ जोड़कर कहा ॥ १ ॥

हे भगवन् और धर्मज्ञ ! आप जैसा कहते हैं वह ठीक है । आपके दोषरहित बचनों से ही मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है ॥ २ ॥

प्रत्ययश्च पुरा वृत्तो वैदेह्याः सुरसन्निधौ ।
शपथश्च कृतस्तत्र तेन वेश्म प्रवेशिता ॥ ३ ॥
लोकापवादो बलवान् येन त्यक्ता हि मैथिली ।
सेयं लोकभयाद् ब्रह्मन्नपापेत्यभिजानता ॥
परित्यक्ता मया सीता तद्भवान्क्षन्तुमर्हति ॥ ४ ॥
जानामि चेमौ पुत्रौ मे यमजातौ कुशीलवौ ।
शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे ॥ ५ ॥
अभिप्रायं तु विज्ञाय रामस्य सुरसत्तमाः ।
सीतायाः शपथे तस्मिन् सर्व एव समागताः ॥ ६ ॥
पितामहं पुरस्कृत्य सर्व एव समागताः ।
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः ॥ ७ ॥
साध्याश्च देवाः सर्वे ते सर्वे च परमर्षयः ।
नागाः सुपर्णाः सिद्धाश्च ते सर्वे हृष्टमानसाः ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा देवान् ऋषींश्चैव राघवः पुनरब्रवीत् ।
प्रत्ययो मे नरश्रेष्ठ ! ऋषिवाक्यैरकल्मषैः ॥ ९ ॥

जानकी ने देवताओं के सामने मुझे विश्वास दिलाया था और शपथ भी किया था। इसी से मैंने उसे घर में प्रवेश कराया था ॥ ३ ॥

परन्तु हे भगवन् ! लोकापवाद बड़ा ही बलवान होता है जिससे मैंने जानकी का परित्याग किया था। हे ब्रह्मन् ! इसे निष्कलंक जानते हुए भी मैंने केवल लोकापवाद के भय से इसे छोड़ा था इसलिए आप मुझे क्षमा करें ॥ ४ ॥

मैं जानता हूं कि एक ही साथ उत्पन्न होने वाले ये दोनों कुशलव मेरे ही पुत्र हैं। यदि इस जनसमूह में भी सीता पवित्र ठहर जाए तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी ॥ ५ ॥

रामचन्द्र के अभिप्राय को जानकर सीता के उस शपथ में सभी देवता लोग आये ॥ ६ ॥

सूर्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव मरुद्गण, साध्य आदि सभी देवता, सभी ऋषि, नाग, सुपर्ण और सिद्ध आदि सभी प्रसन्न होकर ब्रह्मा को आगे करके वहाँ आए ॥७-८॥

देवताओं और ऋषियों को देखकर रामचन्द्र जी ने फिर कहा—हे महर्षि आपकी पवित्र वाणी से मुझे तो विश्वास हो ही गया है ॥ ९ ॥

शुद्धायां जगतो मध्ये वैदेह्यां प्रीतिरस्तु मे।
सीताशपथ-संभ्रान्ताः सर्व एव समागताः ॥ १० ॥
त तो वायुः शुभः पुण्यो दिव्यगन्धो मनोरमः।
तं जनौघं सुरश्रेष्ठो ह्लादयामास सर्वतः ॥ ११ ॥
तदद्भुतमिवाचिन्त्यं निरैक्षन्त समाहिताः।
मानवाः सर्वराष्ट्रेभ्यः पूर्वं कृतयुगे यथा ॥ १२ ॥
सर्वान् समागतान् दृष्ट्वा सीता काषायवासिनी।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यमधोदृष्टिरवाङ्मुखी ॥ १३ ॥
यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १४ ॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १५ ॥
यथैतत् सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १६ ॥

इन लोगों के बीच भी यदि सीता पवित्र सिद्ध हो जायँ तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। ये सभी लोग सीता की शपथ देखने ही के लिए आये हुए हैं ॥ १० ॥

इसके पश्चात् शुभ, पवित्र, मनोहर और दिव्य गन्धयुक्त सुरश्रेष्ठ वायु उस एकत्रित जनसमूह को प्रसन्न करने लगे ॥ ११ ॥

तब सभी राष्ट्रों से आये हुए मनुष्यों ने उस हवा का चलना देखकर आश्चर्यचकित होकर कहा कि हमने सुना था कि ऐसा पवित्र वायु केवल सत्ययुग में ही चलता था ॥ १२ ॥

सभी आए हुए लोगों को देखकर गेरुवा वस्त्र धारण किये हुई जानकी ने हाथ जोड़, अधोमुख हो नीचे दृष्टि करके कहा ॥ १३ ॥

यदि मैंने राम को छोड़कर किसी अन्य को मन से भी न चिन्तन किया हो तो भगवती पृथ्वी मुझे अपने में प्रविष्ट होने के लिए स्थान दे दें ॥ १४ ॥

यदि मैंने मन, वाणी और कर्मों द्वारा केवल राम को ही पति रूप में आराधना की हो तो भगवती पृथ्वी मुझे अपने में प्रवेश होने के लिए स्थान दे दें ॥ १५ ॥

यदि यह मेरा कहना सत्य हो कि मैं राम के अतिरिक्त पुरुषरूप में किसी को नहीं जानती हूं तो भगवती पृथ्वी मुझे अपने में प्रवेश करने के लिये स्थान दे दें ॥ १६ ॥

तथा शपन्त्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत्तदद्भुतम् ।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम् ॥ १७ ॥
ध्रियमाणं शिरोभिस्तु नागैरमितविक्रमैः ।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दिव्यरत्नविभूषितैः ॥ १८ ॥
तस्मिँस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम् ।
स्वागतेनाभिनन्द्यैनामासने चोपवेशयत् ॥ १९ ॥
तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम् ।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत् ॥ २० ॥
साधुकारश्च सुमहान् देवानां सहसोत्थितः ।
साधु साध्विति वै सीते ! यस्यास्ते शीलमीदृशम् ॥ २१ ॥

—:०:—

महाकविः व्यासः

(ई० पू०–५०००)

व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे ।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति ॥ (गोवर्धनः)

महाभारतं नाम ग्रन्थरत्नम् भारतं भा-रतं चकार । एतस्य रचयिता भगवान् वेदव्यासाख्यः कृष्णद्वैपायनः । एतेन यज्ञीयोपयोगार्थं वेदस्य संहितारूपेण चतुर्धा विभागः कृतः । व्यस्यति वेदान् इति वेदव्यासः । अयं च पराशरपुत्रः सत्यवतीगर्भजः।

जानकी के इस प्रकार शपथ लेने के समय ही पृथ्वी फट गई और उसमें से एक अद्भुत दिव्य सिंहासन प्रकट हुआ ॥ १७ ॥

उसे दिव्य शरीरधारी दिव्य रत्नों से विभूषित अत्यन्त पराक्रमी नागों ने अपने सिर पर धारण किया था ॥ १८ ॥

भगवती पृथ्वी ने अपनी दोनों भुजाओं से जानकी को थामकर उनका अभिनन्दन करते हुए उसे सिंहासन पर बिठा लिया ॥ १९ ॥

उस आसन पर बैठी हुई जानकी को पाताल में जाते हुए देखकर स्वर्ग से निरन्तर पुष्पवृष्टि होने लगी ॥ २० ॥

देवताओं की सहसा साधु-साधु की महान ध्वनि होने लगी और सभी लोग कहने लगे कि सीते ! तुम धन्य हो । क्योंकि तुम्हारा चरित्र इतना शीलवान है ॥

—:०:—

एतस्यैव महाकवेः पुत्रः शुकदेवः । अनेन पुराण-महाभारत-वेदान्तसूत्रादीनि निर्मितानि । तत्र महाभारताख्यो ग्रन्थः लक्षश्लोकात्मकः । अत्र भारतोत्पन्नानां राज्ञां वंशादिकं वर्णितमस्ति । प्रस्थानत्रय्यां सन्निविष्टा 'श्रीमद्भगवद्गीता' एतस्यैवांशभूता । अत्रोक्तानि चरित्राण्यवलम्ब्यैव प्रातः ततः परं काव्यं विरचितम् । किमधिकं कथयन्त्येव लोकाः—'महाभारतं नाम पञ्चमो वेदः' । 'इतिहास—पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' । सरला प्रसन्ना च वर्णनशैली सर्वत्रैवाभाति ।

किमन्यत्—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥

—:०:—

पण्डित-मूढ-लक्षणानि

(महाभारतात्)

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ १ ॥
निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्धधान एतत् पण्डित-लक्षणम् ॥ २ ॥
क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता ।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ ३ ॥

(पंडित और मूर्ख का लक्षण)

जिसे आत्मा-परमात्मा का ज्ञान हो, जो शुभ कर्मों का करने वाला हो, जो क्षमाशील हो, जो नित्य धार्मिक कृत्यों में लगा रहे तथा जिसे धन न लुभा सके वही पंडित कहा जाता है ॥ १ ॥

जो उत्तम कार्यों को करने वाला होता है तथा बुरे कर्मों को नहीं करता है और जो ईश्वर तथा वेदादि में श्रद्धाभाव रखने वाला होता है वही पंडित कहा जाता है ॥ २ ॥

जिसे क्रोध, हर्ष, अहंकार, लज्जा, जड़ता, अभिमान और स्वार्थ अपनी ओर आर्कषित न ीं कर पाते वही पंडित कहा जाता है ॥ ३ ॥

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ ४ ॥
यस्य कृत्यं न विध्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥
यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते।
न किञ्चिद्वमन्यन्ते नराः पण्डित-बुद्धयः ॥ ६ ॥
क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति,
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासंपृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे,
तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ ७ ॥
नाप्राप्तमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ ८ ॥
निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ ९ ॥

जिसके विचारों तथा विचार किए हुए कार्योंको कोई नहीं जान पाता केवल उसके सिद्ध हुए कार्यों को ही लोग जानते हैं वही पंडित कहा जाता है ॥ ४ ॥

जिसके कार्य में शीत, गर्मी, भय, अनुराग, धन तथा दरिद्रता आदि बाधा नहीं पहुंचा पातीं उसे पंडित कहा जाता है ॥ ५ ॥

जो अपनी शक्ति के अनुसार ही कोई कार्य करना चाहता है और शक्ति के अनुसार ही करता भी है तथा जो किसी का अपमान नहीं करता वही पण्डित कहा जाता है ॥ ६ ॥

जो किसी बात को शीघ्र ही समझ लेता है किन्तु उसे देर तक सुनता है, और जो जान करके ही किसी प्रयोजन में लगता है न कि किसी कामना से तथा जो दूसरों के किसी भी प्रयोजन में कोई भी बाधा नहीं पहुंचाता है। यही गुण पण्डित की पहली पहिचान है ॥ ७ ॥

जो अप्राप्य वस्तु की इच्छा नहीं करते तथा नष्ट हो जाने वाली वस्तु के प्रति किसी प्रकार का शोक नहीं करते तथा जो आपत्तियों में घबड़ा नहीं जाते वही पण्डित कहे जाते हैं ॥ ८ ॥

जो दृढ़ निश्चय करके ही कार्य प्रारम्भ जरता है तथा जो बीच ही में

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमाने न तप्यते ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥ १० ॥
तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥ ११ ॥
स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्याचरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥ १२ ॥
अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ १३ ॥
संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ! ॥ १४ ॥

सदाचारः
(महाभारतात्)

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।

(विघ्नों के कारण) कार्य को छोड़ नहीं देता, जिसका समय कभी व्यर्थ नहीं जाता और जो आत्मसंयमी होता है वही पंडित कहा जाता है ॥ ९ ॥

जो आदर पाकर प्रसन्न नहीं होता और अनादर से दुखी नहीं होता तथा जो गङ्गा ह्रद के समान क्षोभरहित होता है वही पण्डित कहा जाता है ॥१०॥

जो सभी प्राणियों के तत्त्व को जानने वाला होता है, जो सभी कार्यों का कार्यकाल तथा उपाय जानने वाला होता है तथा जो मनुष्यों के प्रयत्नों को भली-भांति समझता है वही पंडित कहा जाता है ॥ ११ ॥

जो अपना हित छोड़कर दूसरे का हित-साधन करता है और जो मित्र के कार्य में मिथ्या आचरण करता है, वह मूर्ख कहा जाता है ॥ १२ ॥

जो मित्र न बनाने योग्य को मित्र बनाता है, मित्र से द्वेष तथा उसकी हिंसा करता है, और सर्वदा बुरे कर्म ही करता रहता है उसे दुष्ट कहते हैं ॥ १३ ॥

जो अपने कार्यों को बहुत फैला देता है किन्तु सभी जगह संदेह करता है और शीघ्रता से किए जाने योग्य कार्य में देरी करता है उसे मूर्ख कहा जाता है ॥१४॥

—:०:—

सदाचार

पुरुष इस लोक तथा परलोक में सदाचार से आयु, लक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त करता है ॥ १ ॥

आचारात्कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥ १ ॥
आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्र-लक्षणाः ।
साधूनाञ्च यथावृत्तमेतदाचार-लक्षणम् ॥ २ ॥
दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत् ।
यस्मात् त्रसन्ति भूतानि तथा परिभवन्ति च ॥ ३ ॥
ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्रातिलङ्घिनः ।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः ॥ ४ ॥
अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः ।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ ५ ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
उत्थायाचम्य तिष्ठेत पूर्वां सन्ध्यां कृताञ्जलिः ॥ ६ ॥
एवमेवापरां सन्ध्यां समुपासीत् वाग्यतः ।
ऋषियो नित्यसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन् ॥ ७ ॥
ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम् ।
सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत् ॥ ८ ॥

धर्म का लक्षण सदाचार होता है, सज्जनों का लक्षण उनका सदाचारी होना होता है और साधुओं का किया गया कर्तव्य ही आचार का लक्षण होता है ॥२॥

दुराचारी पुरुष इस संसार में लम्बी आयु नहीं पाता है। जिससे सभी प्राणी भयभीत और दुखी होते हैं, जो नास्तिक होते हैं, जो धर्मकृत्यों से विमुख रहते हैं, गुरु और शास्त्र के नियमों का अनादर करते हैं तथा धर्महीन और दुराचारी होते हैं उनकी आयु क्षीण हो जाती है ॥ ३–४ ॥

जो क्रोध नहीं करते, सत्य बोलते, प्राणियों की हिंसा नहीं करते, कभी ईर्ष्या नहीं करते तथा कपटरहित होते हैं वे सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं ॥ ५ ॥

ब्राह्म मुहूर्त में (उषा काल में) उठकर धर्म और अर्थ का चिन्तन करना चाहिये तथा उठकर स्नान करके हाथ जोड़कर प्रातःकालीन सन्ध्या में लग जाना चाहिये ॥ ६ ॥

इसी प्रकार विद्वान को सायंकालीन सन्ध्या की उपासना करनी चाहिये। ऋषियों ने नित्य सन्ध्या करने के कारण ही लम्बी आयु पाई थी ॥ ७ ॥

जो ब्राह्मण प्रातः तथा सायंकाल को सन्ध्या की उपासना नहीं करते, धार्मिक राजा का कर्तव्य है कि वह उन सबसे शूद्रों का कार्य कराये ॥ ८ ॥

पुरीषमूत्रे नोदीक्षेन्नाधितिष्ठेत्कदाचन ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् स्वाध्याये भोजने तथा ॥ ९ ॥
नित्यमग्निं परिचरेद्भिक्षां दद्याच्च नित्यदा ।
वाग्यतो दन्तकाष्ठञ्च नित्यमेव समाचरेत् ॥ १० ॥
मातापितरमुत्थाय नित्यमेवाभिवादये ।
आचार्यमथवाऽप्यन्यं तथाऽऽयुर्विन्दते महत् ॥ ११ ॥
गुरुणा चैव निर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन ।
अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर ! ॥ १२ ॥
महात्मनाञ्च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव ते ।
ज्ञाति-सम्बन्धि-मित्राणि पूजनीयानि सर्वशः ॥ १३ ॥

—:०:—

महाकविः कालिदासः

(ई० पू०-२००)

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥

कविकुलहंसं महाकाव्ये नाटके च अनिर्वचनीयां कामपि प्रतिमां प्रदर्श्य जगति सर्वजनवन्दनीयतामधिगतवन्तं महाकविकालिदासं को न जानाति ? एतेन रघुवंश-कुमारसम्भवाख्यं महाकाव्यद्वयम् मेघदूताभिधं खण्डकाव्यम्, ऋतुसंहाराख्यं काव्यं,

---

विष्ठा और मूत्रको देखना नहीं चाहिए और न तो उस पर बैठना ही चाहिये । स्वाध्याय करने तथा भोजन करने के समय पैर धो लेना चाहिये ॥ ९ ॥

नित्य अग्निहोत्र करना चाहिये, भिक्षा देनी चाहिये तथा दातून सर्वदा करनी चाहिये ॥ १० ॥

नित्य उठकर माता पिता और आचार्य अथवा अन्य गुरुजनों को नमस्कार करना चाहिये । ऐसा करने से लंबी आयु प्राप्त होती है ॥ ११ ॥

गुरु के साथ कभी हठ नहीं करना चाहिये । हे युधिष्ठिर ! यदि गुरु क्रुद्ध भी हो जाय तो उसे मनाना और प्रसन्न करना चाहिए ॥ १२ ॥

महापुरुषों का चरित्र नित्य सुनना चाहिए और अपने जातिवालों संबंधियों और मित्रों का भलीभाँति स्वागत करना चाहिए ॥ १३ ॥

—:०:—

मालविकाग्निमित्र-विक्रमोर्वशीय-शाकुन्तलाभिधानानि दृश्यकाव्यानि च प्रणीतानि। कालिदासश्च कतममन्वयं कतमञ्च जनपदमलञ्चकार तन्निश्चितन्नाकलयामः, परं मेघदूतादिसमालोचनया एवं वक्तुं शक्यते, यदसौ श्रीविशालां विशालामुज्जयिनीमेव जन्मनाऽलञ्चकार। काव्यात्मभूतस्य रसस्य परिपोषणमेतत्-काव्ये दृश्यते। मन्ये शृङ्गाररस्य कमनीयः शृङ्गारः माधुर्यस्य मधुरसन्निवेशः, प्रसादस्य मञ्जुल-प्रसादः, उपमाद्यलङ्कारवर्गाणामनुपमेयसंश्लेषः, एतद्विरचितरमणीयार्थप्रतिपादके काव्यलक्षणलक्ष्ये दृश्यते। एतद्रचनया सर्वत्र प्रथितसुकवितया प्रख्यातिमुपलभ्य क्रमेण विक्रमादित्यस्य सदस्यतामाससाद।

(कालिदास का काल तथा जीवनवृत्त देखें रघुवंश-इन्दुमती टीका, सर्ग १, २, ३)

शिव-पार्वती-संवादः
(कुमारसम्भवात्)

[इमे श्लोकाः कालिदास-कृतस्य कुमार-सम्भव-काव्यस्य पञ्चमसर्गात् समुद्धृताः। पार्वती शिवं प्राप्तुं तपः करोति। ब्रह्मचारिवेषधारी शिवः पार्वतीं परीक्षितुं तत्समीपमागच्छति। अनेकधा शिवस्य निन्दां च करोति। पार्वती ब्रह्मचारिणः प्रत्युत्तरं दत्त्वा शिव-निन्दां श्रोतुं नेच्छति।]

अथाह वर्णी विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे।
अमङ्गलाभ्यास-रतिं विचिन्त्य तं तवानुवृत्तिं न च कर्तुमुत्सहे ॥ १ ॥
अवस्तुनिर्बन्धपरे! कथं नु ते करोऽयमामुक्त-विवाह-कौतुकः।
करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ॥ २ ॥

शिव पार्वती संवाद

इसके पश्चात् ब्रह्मचारी रूप शंकर ने पार्वती से कहा—आपने शंकरजी को भलीभाँति जान भी लिया है (अर्थात् उन्होंने आपके प्रेमको ठुकरा दिया है, फिर भी आप अभी उन्हीं की इच्छुक बनी हुई हैं) किन्तु उस अमंगल-वेषधारी का विचार करके तो मुझे आपके इस कार्य के अनुमोदन करने का साहस ही नहीं हो रहा है ॥ १ ॥

आपने इतने आयोग्य वस्तु के प्रति इतना हठ धारण कर लिया है? भला बताइये तो सही आपका यह विवाह के मंगल-सूत्र से सजा हुआ हाथ सर्प का वलय (हाथ में पहनने का आभूषण) धारण करने वाले शंकरजी के हथों से किया गया पहला ग्रहण किस प्रकार सहन कर सकेगा? ॥ २ ॥

त्वमेव तावत् परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।
वधूदुकूलं कल-हंस-लक्षणं गजाजिनं शोणित-बिन्दु-वर्षि च ॥ ३ ॥
चतुष्क-पुष्प-प्रकरावकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवानुमन्यते ।
अलक्तकाङ्कानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेत-भूमिषु ॥ ४ ॥
अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिनेत्र-वक्षः सुलभं तवापि यत् ।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥ ५ ॥
द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ ६ ॥
वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि ! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥ ७ ॥
निवर्तयास्मादसदीप्सितान्मनः क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा ।

एक ओर आप सुन्दर हंसों चिह्नित नववधू का वस्त्र धारण किए रहेंगी, दूसरी ओर वह रक्तबिन्दुओं से भरा हुआ हाथी का चर्म धारण किए रहेंगे । आप स्वयम् ही विचार कर लें क्या कभी ये दोनों वेश एक दूसरे के योग्य हो सकेंगे ॥

आँगन में फैले हुए फूलों पर चलने योग्य आपके चरणों के लाक्षा रंग से रंगे हुए चरण-चिह्न बिखरे हुए बालों से भरी हुई श्मशान भूमि में पड़े ऐसा तो आपका कोई शत्रु भी नहीं स्वीकार कर सकता ॥ ४ ॥

आपही बतलाइए, इससे आयोग्य और हो ही क्या सकता है ? यदि मान भी लें कि आपके लिए शंकरजी का आलिङ्गन सुलभ हो गया तब भी आपको बूढ़े बैल पर बैठा हुआ देखकर सभी भले लोग हँस पड़ेंगे ॥ ५ ॥

शंकर से मिलने की कामना में आज दोनों के भाग्य फूट गये । चन्द्रमा की उस कांतिमयी कला के भाग्य तो फूटे ही थे संसार को आँखों की कौमुदी आपके भाग्य भी फूट गये हैं (कला भी गई और कौमुदी (चाँदनी) भी गई, कहने का तात्पर्य यह कि चंद्रकला के जाने पर भी उसकी चांदनी जो संसार के नेत्रों को आनंदित कर रही थी आज वह भी चली गई) ॥ ६ ॥

आपके नेत्र तो मृगछौने के नेत्र के समान बड़े और चंचल हैं किंतु उनके शरीर में तीन आँखें हैं, उनके जन्म का कोई ठिकाना ही नहीं और धन ! वह तो उनके नंगे रहने ही से मालूम हो रहा है । आप ही बताएँ वर में रूप, कुल, और धन जो तीन गुण देखे जाते हैं उनमें से एक भी क्या शंकरजी में है ॥ ७ ॥

अतः आप इस अयोग्य अभिलाषा से अपने मन को हटा लें । कहाँ वर के

अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशान-शूलस्य न यूपसत्क्रिया ॥ ८ ॥
इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाऽधरलक्ष्यकोपया ।
विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ॥ ९ ॥
उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम् ।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥१०॥
विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ॥११॥
अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः ।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ॥१२॥
विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा ।

गुणों से हीन वे और कहाँ मंगल लक्षणों से युक्त नववधू के गुणों से युक्त आप ! सज्जन कभी भी श्मशान में गड़े शूल का वैदिक यज्ञों में गड़े हुए यूप (यज्ञस्तंभ) के लिए वरण नहीं करते । अर्थात् श्मशान-शूल से यूप का काम नहीं लेते ॥ ८ ॥

ऐसा सुनते ही पार्वतीजी के होंठ मारे क्रोध के काँपने लगे, उनकी भौंहें तन गई और उन्होने इस प्रकार अपनी श्रद्धा के प्रतिकूल कहने वाले ब्राह्मण को लाल-लाल आँखों की टेढ़ी निगाहों से तरेर कर देखा ॥ ९ ॥

उन्होंने उस ब्राह्मण से कहा—अभी अभी आपने मुझसे जो कुछ कहा है उससे तो निश्चय हो जाता है कि सचमुच आप शंकरजी को जानते नहीं और जाने भी कैसे ? महात्माओं का चरित्र तो इतना असाधारण होता है कि वह समझ में आता ही नहीं इसलिए मन्द बुद्धि वालों को उसमें दोष ही दिखाई पड़ते हैं ॥

और आप क्या जानते नहीं कि विपत्तियों से बचने वाला और ऐश्वर्य की कामना करने वाला ही मांगलिक वस्तुओं का सेवन करता है । भला जो जगत् को शरण देने वाले होते हैं उन्हें विपत्ति हो ही कैसे सकती और जो कामनाहीन हैं उन्हें धन की इच्छा भी तो नहीं ही होगी अतः वह वासनाओं से दूषित भावनाओं को पैदा करने वाले मांगलिक पदार्थों को लेकर करेंगे ही क्या ? ॥ १० ॥

माना कि वह दरिद्र हैं किंतु सभी ऐश्वर्यों के जन्मदाता भी तो वही हैं और श्मशान में रहते हुए भी तीनों लोकों के स्वामी भी तो वही हैं । यद्यपि उनका रूप अत्यंत भयंकर है फिर भी वे साक्षात् कल्याण ही कहे जाते हैं । सचमुच उनके तत्त्व को जानने वाले हैं ही नहीं ॥ १२ ॥

जो विश्वमूर्ति हैं (अर्थात् संसार में जितने रूप हैं सभी उन्हीं के हैं) उनका

करालि वा स्यादथवेन्दुशेखरो न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥१३॥
तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्मरजो विशुद्धये।
तथा हि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥१४॥
असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोऽरुणाङ्गुली ॥१५॥
विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम्।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति ॥१६॥
अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममात्र भावैकरसं मनःस्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥१७॥
निवार्यतामालि किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥१८॥

शरीर आभूषणों से चमकने वाला है अथवा साँपों से लिपटा है, हाथी का चर्म धारण करन वाला है, मुंडमाला धारण करने वाला है या चंद्रमा धारण करने वाला है ऐसा निश्चय ही नहीं किया जा सकता ॥ १३ ॥

चिता का भस्म भी उनके अङ्गों का संसर्ग पाकर दूसरों को पवित्र बनाने वाला बन जाता है इसलिए तांडव करते समय गिरे हुए उस चिता-भस्म को देवता लोग अपने सिर पर धारण करते हैं ॥ १४ ॥

आप जिसे दरिद्र कह रहे हैं वही जब अपने बैल पर चढ़ कर चलते हैं तो मतवाले ऐरावत पर चलने वाला इन्द्र भी उनके चरणों को अपने मस्तक से छूकर उनकी अंगुलियों को कल्पवृक्ष के फूलों के पराग से रंजित करता है ॥ १५ ॥

अपनी दुष्टि बुद्धि से प्रेरित होकर आपने दोषों का वर्णन करते करते उनके प्रति एक बात तो सच्ची कह ही डाली है जिसे वेद ब्रह्मा को भी उत्पन्न करने वाला मानते हैं भला उसके जन्म और कुल को जाना ही कैसे जा सकता है॥

अथवा महाराज आप का विवाद व्यर्थ है। आपने उन्हें जैसा सुना है यदि वे वैसे ही हो तो भी हमारा मन तो उन्हीं में रमा हुआ है और जब किसी का मन किसी से रम जाता है तो वह किसी के कहने सुनने पर ध्यान नहीं देता।। १७॥

उस ब्राह्मण रूप धारी शंकर को पुनः बोलने के लिए उद्यत देखकर पार्वतीजी ने कहा—हे सखी, अभी कुछ और कहने के लिए इसके होठ फरक रहे हैं अतः इस ब्राह्मण को किसी प्रकार रोको। केवल महापुरुषों की निन्दा करने वाला ही नहीं अपितु उससे निन्दा सुनने वाला भी पाप का भागी होता है ॥ १८ ॥

सिंह-दिलीप-संवादः
(कालिदास-रघुवंशात्)

[अयमंशः रघुवंशस्य द्वितीयसर्गादुद्धृतः। राजा दिलीपः वसिष्ठस्य धेनुं चारयितुं वनं नीतवान्। तत्र दिलीपं परीक्षितुमेकः सिंहः गामाक्रम्य स्थितः। दिलीपः तदुपरि बाणं प्रक्षेप्तुमैच्छत्, किन्तु तस्य दक्षिणः हस्तः शरे एव लग्नः स्थितः। अथ दिलीपं व्यर्थपरिश्रमं वीक्ष्य सिंहः वदति।)

अलं महीपाल! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ १ ॥
कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ २ ॥
अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ ३ ॥
कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ४ ॥

सिंह दिलीप-संवाद

सिंह ने मारने के लिए उद्यत दिलीप से कहा—हे राजन्! व्यर्थ परिश्रम न करें। आपके द्वारा चलाया गया अस्त्र भी व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेकेने वाला वायु का वेग पहाड़ का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता ॥ १ ॥

मुझे आप शंकरजी का कृपापात्र सेवक निकुंभ का मित्र कुंभोदर समझिए। जब शंकरजी कैलास के समान अपने उजले बैल पर चढ़ने लगते हैं, तब उसके पहले अपने जरणों से मेरी पीठ पवित्र करते हैं (अर्थात् मेरी पीठ पर पैर रखकर बैल पर चढ़ते हैं) ॥ २ ॥

अपने सामने आप जो इस देवदारु बृक्ष को देख रहे हैं, उसे शंकरजी अपने पुत्र के समान समझते हैं, क्योंकि स्वयं पार्बतीजी ने अपने सोने के घड़े के समान स्तनों के दूघ से सींच सींचकर इसे इतना बड़ा किया है ॥ ३ ॥

एक बार किसी जंगली हाथी ने अपने कपोल को खुजलाते समय रगड़कर इसकी थोड़ी सी छाल को उखाड़ दिया। उससे पार्वतीजी को उसी प्रकार कष्ट हुआ, जैसा दैत्यों के बाणों से घायल पुत्र कार्तिकेय को देखकर हुआ था ॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥ ५ ॥
तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ६ ॥
स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान् दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥ ७ ॥
इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥ ८ ॥
प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ९ ॥
संरुद्ध-चेष्टस्य मृगेन्द्र ! कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद, सर्वं भवान् भावमतोऽभिधास्ये ॥ १० ॥

उसी समय से शंकरजी ने जंगली हाथियों को डराने के लिए समीप में आये हुये प्राणियों की वृत्ति (जीवन निर्वाह का साधन) देकर सिंह रूप में मुझे इस पर्वत की गुफा में नियुक्त किया है ॥५॥

जैसे चन्द्रमा का अमृत राहु को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार शंकरजी के द्वारा निर्दिष्ट-समयानुसार ठीक भोजन के समय आई हुई इस गाय का रक्त भूखे हुए मेरी तृप्ति के लिए पर्याप्त है ॥६॥

अतः आप लज्जा का परित्याग करके लौट आइए। आपने गुरु के प्रति यथोचित भक्ति दिखाई। जो वस्तु शस्त्र द्वारा बचाई जा सकती हो, किन्तु यदि उसकी रक्षा शस्त्रोंसे हो ही न सके तो शस्त्रधारियों की कीर्ति नष्ट नहीं होती ॥७॥

सिंह की ऐसी धृष्टता पूर्ण बाते सुन कर जब राजा को विश्वास हो गया कि शंकरजी के प्रभाव से ही हम शस्त्र नहीं चला सके तो उनके मन की आत्मग्लानि कुछ कम हो गयी ॥८॥

शंकरजी के देखने मात्र से वज्र चलाने के लिए तत्पर इन्द्र के समान बाण चलाने में पहिले पहिले असफल और हाथ बंधे हुये राजा ने सिंह से कहा ॥९॥

हाथ के बंध जाने मे मेरी सारी क्रियायें रुक गई हैं अतः मैं जो बातें आपसे कहना चाहता हूं यद्यपि वह हंसी उड़ाने योग्य होगी, फिर भी आप प्राणियों के हृदय की सभी बातें जानते हैं इसलिए मैं उन्हें कह रहा हूँ ॥ १० ॥

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥११॥
स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥१२॥
अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥१३॥
एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥१४॥
भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत् स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ! पितेव पासि ॥१५॥
अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥१६॥

देखिए! जड़ और चेतन सभी प्राणियों को जन्म देने वाले, पालन-पोषण करने वाले तथा विनाश करने वाले शंकरजी का मैं बड़ा ही आदर करता हूँ, किन्तु साथ ही अग्निहोत्री गुरु के इस गाय रूपी धन को भी तो अपने आँखों के सामने नष्ट होते देख नहीं सकता ॥११॥

अतः आप मेरे शरीर द्वारा अपनी भोजन क्रिया समाप्त करने की कृपा करें। संन्ध्याकाल में अपने बछड़े से मिलने के लिए आकुल महर्षि की इन गाय को छोड़ दीजिए ॥१२॥

इसके पश्चात् पहाड़ की गुफाओं के अन्धकार को अपने दाढों की चमक से नष्ट करते हुए उस शंकर के सेवक ने कुछ हंसकर राजा से फिर कहा ॥१३॥

राजन! तुम एकच्छत्र साम्राज्य के स्वामी हो, तुम्हारी अवस्था भी नई है और तुम्हारा शरीर भी इतना सुन्दर है, किन्तु एक तुच्छ वस्तु के लिए इतनी वस्तुओं को तुम छोड़ना चाहते हो। इससे तो तुम मुझे उचित-अनुचित के विचार से शून्य प्रतीत हो रहे हो ॥१४॥

यदि प्राणियों पर कृपा ही करना चाहते हो तो भी आपके अन्त से केवल इस एक गाय की ही रक्षा हो सकेगी, किन्तु यदि हे राजन्! आप जीवित रहेगे तो पिता के समान सर्वदा समस्त प्रजा की विपत्तियों से रक्षा करेंगे ॥१५॥

और यदि आप एक ही गाय वाले, अग्नितुल्य अत्यन्त क्रोधी गुरु से इसको बचा न सकने के दोष के कारण डरते हैं तो घड़ों के समान स्तनों वालो सैकड़ों गायों को देकर आप उनके क्रोध को दूर कर सकते हैं ॥१६॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥ १७ ॥
एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥ १८ ॥
निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥ १९ ॥
क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ २० ॥
कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥ २१ ॥
सेयं स्वदेहार्पण-निष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियाऽर्थः ॥ २२ ॥

अतः हे राजन ! उत्तरोत्तर सुखों का उपभोग करने वाले अत्यन्त बलशाली अपने इस शरीर की रक्षा करो, क्योंकि विद्वान लोग वैभवशाली राज्य को स्वर्ग कहते हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि वैभवशाली राज्य पृथ्वी का स्वर्ग है और वह देवलोक का स्वर्ग है ॥ १७ ॥

सिंह के इतना कहकर चुप हो जाने पर पर्वत की गुफाओं से भी उसकी गूंज सुनाई पड़ी, मानो उस पहाड़ ने भी प्रसन्न होकर सिंह की कही बातों को फिर से दुहराया हो ॥ १८ ॥

शंकरजी के सेवक सिंह की बात सुनकर राजा ने सिंह के नीचे दबी हुई कातर नेत्रों से अपनी ओर देखती हुई गाय को देखकर भरे हुये हृदय से फिर कहा ॥१९॥

हे सिंह ! क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही होता है नष्ट होने से बचानेवाला, यदि मैंने इसके विपरीत आचरण किया (इसे न बचा पाया) तो यह राज्य मेरे किस काम का और अपयश से अलंकित यह जीवन भी किस काम का ॥ २० ॥

इसके बदले में दूसरी गाये देकर मैं महर्षि वसिष्ठ को मनाने में किस प्रकार समर्थ हो सकूँगा ? इसे कामधेनु से किसी प्रकार कम मत समझो । तुमने एक मात्र शंकरजी के बल से ही इस पर आक्रमण किया है (अन्यथा तुम इसका बाल भी बाँका न कर सकते) ॥ २१ ॥

अतः मुझे अपना शरीर देकर भी इसे छुड़ाना ही उचित है, क्योंकि इससे

भवानपीदं परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ २३ ॥
किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ २४ ॥
सम्बधमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते।
तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ २५ ॥
तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत् पिण्डमिवामिषस्य ॥ २६ ॥
तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ २७ ॥

—:०:—

आपका भोजन भी पूरा हो जायगा और महर्षि की यज्ञ क्रियायें भी न रुक सकेंगी ॥

आप भी तो दूसरे के अधीन हैं और (अपने उसी सेवाधर्म की रक्षाके लिए) इस देवदारु की रक्षा में इतने प्रयत्नशील हैं। आप तो यह जानते ही हैं कि रक्षणीय वस्तु को नष्ट करके और अपने को बचा करके सेवक स्वामी के आगे कौन मुँह लेकर खड़ा हो सकेगा ॥ २३ ॥

और यदि आप मेरे शरीर की रक्षा ही करना चाहते हैं तो मेरे यशरूपी शरीर की रक्षा कीजिए। मेरे जैसे लोग अन्त में नष्ट हो जाने वाले भौतिक शरीर के प्रति तनिक भी मोह नहीं करते ॥ २४ ॥

बातचीत करने से ही सम्बंध होता है और वह सम्बंध इस बातचीत के नाते इस जंगल में भी हमारे और आपके बीच हो चुका है। अतः हे शंकरजी के सेवक ! मुझ सम्बंधी के इस प्रेम-निवेदन को तो आपको ठुकराना नहीं ही चाहिये ॥२५॥

सिंह ने दिलीप की बातें सुनकर ज्योंही कहा कि 'अच्छी बात है ! ऐसा ही सही', उसी समय राजा का बाहु अस्त्र से मुक्त हो गया, उन्होंने अपना अस्त्र फेंक दिया और मांस के लोथड़े के समान अपने शरीर को उसके आगे कर दिया ॥

राजा नीचे मुँह किए हुए अपने ऊपर सिंह के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगे कि इतने ही में प्रजापालक राजा दिलीप के ऊपर आकाश से विद्याधरों ने फूलों की झड़ी लगा दी ॥ २७ ॥

(वसिष्ठाश्रम का वर्णन, सिंहदिलीप संवाद, इन्द्र-रघु—संवाद आदि समीक्षात्मक प्रश्नोत्तर 'इन्दुमती' टीका सहित रघुवंश सर्ग २—३ में पढ़ें)

———

शरद्वर्णनम्

(भट्टिकाव्यस्य द्वितीयसर्गतः)

वनस्पतीनां सरसां नदीनां तेजस्विनां कान्तिभृतां दिशाञ्च ।
निर्याय तस्याः स पुरः समन्ताच्छ्रियं दधानां शरदं ददर्श ॥ १ ॥
तरङ्गसङ्गाच्चपलैः पलाशैर्ज्वालाश्रियं सातिशयां दधन्ति ।
सधूमदीप्ताग्निरुचीनि रेजुस्ताम्रोत्पलान्याकुल-षट्पदानि ॥ २ ॥
बिम्बागतैस्तीरवनैः समृद्धिं निजां विलोक्यापहृतां पयोभिः ।
कूलानि सामर्षतयेव तेनुः सरोजलक्ष्मीं स्थलपद्महासैः ॥ ३ ॥
निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः ।
उपारुरोदेव नदत्पतङ्ग-कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनादौ ॥ ४ ॥
वनानि तोयानि च नेत्रकल्पैः पुष्पैः सरोजैश्च निलीनभृङ्गैः ।
परस्परां विस्मयवन्ति लक्ष्मीमालोकयाञ्चक्रुरिवादरेण ॥ ५ ॥

शरद्वार्णन

श्री रामचन्द्र जी ने अयोध्या से निकलकर चारों ओर वृक्षों, तालाबों, नदियों चन्द्रमा और तारे आदि तेजस्वियों तथा प्रकाशमान दिशाओं में नवीन शोभा धारण करने वाली शरद् ऋतु की शोभा को देखा ॥ १ ॥

लहरों से चंचल कमल-पत्रों से उद्दीप्त आग की लपटों की शोभा धारण करने वाले चंचल भ्रमरों से युक्त लाल रंग के कमल धुएंयुक्त जलती हुई आग की शोभा के समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २ ॥

प्रतिबिम्ब के रूप में अपनी वैभवपूर्ण शोभा का जल द्वारा अपहरण करते हुए देखकर किनारों ने मानों क्रुद्ध होकर स्थल में उगने वाले कमलों के बहाने जल-कमल की शोभा को छीन लिया ॥ ३ ॥

प्रातःकाल किनारे के वृक्ष अपने ऊपर बैठकर चहचहाने वाले पक्षियों के स्वर में पत्तों से ओसरूपी आंसुओं की बूँदें गिराते हुए कुमुदिनी की विरह-दशा देख कर रोते हुए से प्रतीत हो रहे थे ॥ ४ ॥

वन और जल दोनों ही नेत्र के समान भ्रमरयुक्त फूलों और कमलों से एक दूसरे को आश्चर्य में डालने वाली शोभा को आदरपूर्वक देखते हुए प्रतीत हो रहे थे ॥ ५ ॥

दत्तावधानं मधुलेहिगीतौ प्रशान्तकष्टं हरिणं जिघांसुः ।
आकर्णयन्नुत्सुक-हंस-नादान्, लक्ष्ये समाधिं न दधे मृगावित् ॥ ६ ॥
गर्जन् हरिः साम्भसि शैलकुञ्जे प्रतिध्वनीनात्मकृतान्निशम्य ।
क्रमं बबन्ध क्रमितुं सकोपः प्रतर्कयन्नन्य-मृगेन्द्र नादान् ॥ ७ ॥
दिग्व्यापिनीर्लोचन-लोभनीया मृजान्वयाः स्नेहमिव स्रवन्तीः ।
ऋज्वायताः सस्य विशेष-पङ्क्तीस्तुतोष पश्यन् वितृणांतरालाः ॥ ८ ॥
वियोगदुःखानुभवानभिज्ञैः काले नृपांशं विहितं ददद्भिः ।
आहार्य-शोभा-रहितैरमायैरैक्षिष्ट पुम्भिः प्रचितान् स गोपान् ॥ ९ ॥
सितारविन्द-प्रचयेषु लीनाः संसक्त-फेनेषु च सैकतेषु ।
कुन्दावदाताः कलहंसमालाः प्रतीयिरे श्रोत्रसुखैर्निनादैः ॥१०॥

भौरों की गुञ्जार में ध्यानमग्न एवं चेष्टारहित (भागने में असमर्थ) हरिणों को मारने की इच्छा रखने वाला वहेलिया उल्लास में मग्न हंसों की मधुर ध्वनि सुनने में तल्लीन होने से अपने लक्ष्य में समाविस्थ न हो सका अर्थात् ठीक निशाने पर बाण न चला सका ॥ ६ ॥

जलयुक्त गुफाओं में गरजता हुआ सिंह उससे प्रतिध्वनित होने वाले गर्जन को जल में पड़ने वाले अपने ही प्रतिबिम्बरूपी दूसरे सिंह का गर्जन समझ कर क्रोध से उसके ऊपर आक्रमण करने के लिए तत्पर हो गया है ॥ ७ ॥

श्री रामचन्द्र जी सभी दिशाओं में फैली हुई, नेत्र को लुभाने वाली स्वच्छता-पूर्ण स्निग्धता को बरसाती हुई सी सरल तथा लम्बी और घास-फूस रहित धान की खेती को देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हो गए ॥ ८ ॥

रामचन्द्रजी ने विरह-दुःख की अनुभूति न रखने वाले अर्थात् अपने बन्धु-बांधवों के साथ प्रसन्न, समय पर धर्मशास्त्रानुसार राज्यकर चुका देने वाले, आभूषणों की शोभा से रहित तथा कपटहीन ग्वालों के साथ गायों के रहने के स्थान को देखा ॥ ९ ॥

रामचन्द्र जी ने सफेद कमलों के बीच तथा फेन से भरे हुए किनारों पर कुन्द फूल के समान उज्ज्वल हंसों को उनके कानों को मधुर लगने वाले शब्दों से ही अनुमान किया, अर्थात् श्वेत कमलों और श्वेत किनारों पर श्वेत हंस ऐसे मिल गए थे कि वे बोलने पर ही पहिचाने जाते थे ॥ १० ॥

न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥११॥

—:o:—

अश्वघोषः

(ई०–१००)

साकेतवासी अयमश्वघोषः सुवर्णाक्ष्याः पुत्र आसीत्। ब्राह्मणोऽयं वैदिक-साहित्यनिष्णातः वाल्मीकीय–रामायणमर्मज्ञः महाभारतविशेषज्ञश्चासीत्।

अयं बौद्धमतावलम्बी। एतस्य प्रसिद्धाः साहित्यिकरचनाः बुद्धचरितं महाकाव्यम्, सौन्दरनन्दमहाकाव्यम्, शारिपुत्रप्रकरणञ्चेति। बुद्धचरिते तथागतस्य सात्त्विकजीवनवर्णनमस्ति। साम्प्रतं त्रयोदशसर्गपरिमितं पुस्तकमुपलभ्यते।

सौन्दरनन्दमहाकाव्ये बुद्धानुजसुरनन्दस्य प्रव्रज्याग्रहणवर्णनमस्ति। अत्र अष्टादशसर्गाः सन्ति। शारिपुत्रप्रकरणे बुद्धशिष्यस्य शारिपुत्रस्य दीक्षाग्रहणमुपवर्णितमस्ति।

मन्ये, धर्मप्रचाराय कमनीयकाव्यकलामाश्रित्य एते ग्रन्थाः विरचिताः। प्रयोगेऽयं व्याकरणविशेषज्ञानं प्रदर्शितवान्। स्वाभाविकता सर्वत्रैवैतत्काव्ये विराजते। कविजनानुकरणीया शैली।

कपिलाश्रमवर्णनम्

(सौन्दरनन्दात्)

गौतमः कपिलो नाम मुनिर्धर्मभृतां वरः।
वभूव तपसि श्रान्तः कक्षीवानिव गौतमः ॥ १ ॥

उस शरद ऋतु में ऐसा कोई तालाब नहीं था जिसमें कमल न हों, कोई ऐसा कमल नहीं था जिसपर भौंरे न हों, कोई ऐसा भौंरा नहीं था जो मधुर गुंजार न कर रहा हो और कोई ऐसी गुंजार नहीं थी जो मन को हर न रही हो ॥११॥

———

कपिल के आश्रम का वर्णन

कक्षीवान गौतम के समान कपिल गौतम नाम के धार्मिकों में श्रेष्ठ अत्यन्त तपस्वी मुनि हुए ॥ १ ॥

अशिश्रियद् यः सततं दीप्तं काश्यपवत्तपः ।
आशिश्राय च तद्वृद्धौ सिद्धं काश्यपवत्पराम् ॥ २ ॥
तस्य विस्तीर्णयशसः पार्श्वे हिमवतः शुभे ।
क्षेत्रं चायतनं चैव तपसामाश्रमोऽभवत् ॥ ३ ॥
अथ तेजस्वि-सदनं तपःक्षेत्रं तमाश्रमम् ।
केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः ॥ ४ ॥
सुवर्णस्तम्भवर्ष्माणः सिंहोरस्का महाभुजाः ।
पात्रं शब्दस्य महतः श्रियां च विनयस्य च ॥ ५ ॥
अर्हरूपा ह्यनर्हस्य महात्मानश्चलात्मनः ।
प्राज्ञाः प्रज्ञाविमुक्तस्य भ्रातृत्वस्य यवीयसः ॥ ६ ॥
मातृ-शुल्कादुपगतां ते श्रियं न विषेहिरे ।
ररक्षुश्च पितुः सत्यं यस्माच्छिश्रियिरे वनम् ॥ ७ ॥
तेषां मुनिरुपाध्यायो गौतमः कपिलोऽभवत् ।
गुरुगोत्रादतः कौत्सास्ते भवन्ति स्म गौतमाः ॥ ८ ॥

उन्होंने काश्यप के समान उग्र तप किया और उस तपस्या की वृद्धि पर उन्होंने काश्यप के ही समान महान सिद्धि प्राप्त की ॥ २ ॥

उस ख्यातिप्राप्त तपस्वी का आश्रम उस हिमालय के पवित्र अंचल में था जो तपस्वियों का घर और तपस्या की पवित्र भूमि था ॥ ३ ॥

एक बार तेजस्वियों के निवासस्थान और तपस्या की भूमि उस आश्रम में कुछ इक्ष्वाकुवंशी राजकुमार रहने की इच्छा से गये ॥ ४ ॥

उनके शरीर सोने के खम्भे के समान थे. उनकी छाती सिंह के समान थी और भुजाएं लम्बी थीं । वे महानता, शोभा और विनय के पात्र थे ॥ ५ ॥

उनमें बड़ा भाई तो योग्य था किन्तु छोटा अयोग्य. वे तो महात्मा थे किन्तु छोटा चंचल चित वाला था, तो वे बुद्धिमान थे किन्तु छोटा महा अज्ञानी था ॥६ ॥

माता के दहेज में मिले हुए धन को उन्होंने बलात् ग्रहण किया, उन्होंने पिता के सत्य की रक्षा की इसलिए वे जंगल में चले आये ॥ ७ ॥

मुनि कपिल गौतम उनके आचार्य हुए इसलिए वे कौत्स गुरू के गोत्र से गौतम गोत्र वाले हुए ॥ ८ ॥

एक-पित्रोर्यथा भ्रात्रोः पृथग्गुरुपरिग्रहात्।
राम एवाभव द्गार्ग्यो वासुभद्रोऽपि गौतमः ॥ ९ ॥
शाक-वृक्ष-प्रतिच्छन्नं वासं यस्माच्च चक्रिरे।
तस्मादिक्ष्वाकुवंश्यास्ते भुवि शाक्या इति स्मृताः ॥१०॥
स तेषां गौतमश्चक्रे स्ववंश-सदृशीः क्रियाः।
मुनिरूर्ध्वकुमारस्य सगरस्येव भार्गवः ॥ ११ ॥

—:०:—

श्रीविष्णुशर्मा

आसीदेको विविधविद्याविचक्षणः सकललोकशास्त्रज्ञो नीतिप्रवीणोऽध्यापन-कलाकुशलो विष्णुशर्मा नाम दाक्षिणात्यो ब्राह्मणः।

तद्रचितमेतत्पञ्चतन्त्रम्। अत्र मित्रभेदः, मित्रलाभः, सन्धिविग्रहः, लब्ध-प्रणाशः, अपरीक्षितकारकञ्चेति पञ्चतन्त्राणि सन्ति। सर्वेषु तन्त्रेषु काचिन्मुख्या कथा वर्तते, यस्याः परिपोषणार्थमङ्गभूतानि इतराणि सदुपाख्यानानि सन्ति। एतस्य नीतिशास्त्रप्रवीणता सर्वत्र दृश्यते। नात्राल्पत्वं विनोदप्रियतायाः न वा काठिन्यं वाक्यविन्यासस्य, नापि दुरवगाहता भावस्य। कथानिर्देशस्तु सर्वत्रैव गद्येन कृतः। बालानां नीतिशास्त्रोपदेशाय सर्वथा मनोहारि पुस्तकमतः परं नावलोकितं न वा श्रुतम्। पञ्चतन्त्रस्य विश्वव्यापिप्रभावस्वीकारे नास्ति कस्यापि विमतिः।

सेवाधर्मः

(पञ्चतन्त्रात्)

सुवर्ण-पुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः।

जैसे अलग-अलग गुरु के शिष्य होने से एक ही पिता के पुत्र दो भाइयों में से राम तो गार्ग्य हुआ वासुभद्र गौतम ॥ ९ ॥

उन्होंने जिस स्थान पर निवास किया वह शाकवृक्ष से ढका हुआ था इसी-लिए वे इवाकुवंशी पृथ्वी पर शाक्य नाम से विख्यात हुए ॥ १० ॥

गौतम ने अपने वंश के अनुसार वैसे ही उनका संस्कार किया जैसे भार्गव मुनि ने सगरकुमार का किया था ॥ ११ ॥

—:०:—

सेवा धर्म

जो शूरवीर होता है, जो विद्वान होता है तथा जो सेवा-धर्म को भलीभांति

शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ १ ॥
सा सेवा या प्रभु-हिता ग्राह्या वाक्य-विशेषतः ।
आश्रयेत्पार्थिवं विद्वाँस्तद्द्वारेणैव नान्यथा ॥ २ ॥
यो न वेत्ति गुणान् यस्य न तं सेवेत पण्डितः ।
नहि तस्मात् फलं किञ्चित् सुकृष्टादूषरादिव ॥ ३ ॥
द्रव्य-प्रकृति-हीनोऽपि सेव्यः सेव्य-गुणान्वितः ।
भवत्याजीवन तस्मात् फलं कालान्तरादपि ॥ ४ ॥
अपि स्थाणुवदासीनः शुष्यन् परिणतः क्षुधा ।
न त्वेवानात्मसम्पन्नाद् वृत्तिमीहेत पण्डितः ॥ ५ ॥
सेवकः स्वामिनं द्वेष्टि कृपणं परुषाक्षरम् ।
आत्मानं किं स न द्वेष्टि सेव्यासेव्यं न वेत्ति यः ॥ ६ ॥
यमाश्रित्य न विश्रामं क्षुधार्ता यान्ति सेवकाः ।

जानता है वही इस सुवर्ण से फूली हुई पृथ्वी को चुनता है अर्थात् सोना प्राप्त करता है ॥ १ ॥

सेवा वही जो स्वामी के हित के लिए की जाय और उसकी आज्ञा के ही अनुसार ग्रहण की जाय। इसलिए विद्वान को राजा की आज्ञा ही से राजा का आश्रय लेना चाहिए, न कि अन्य उपाय से ॥ २ ॥

जो जिसके गुणों को न जानता हो उसे उसकी सेवा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उससे उसी प्रकार कोई फल प्राप्त नहीं होता, जैसे ऊसर भूमि के जोतने से कोई फल नहीं मिलता ॥ ३ ॥

धन और स्वभाव से हीन पुरुष भी यदि स्वामी के गुणों से युक्त हो तो उसकी सेवा करनी चाहिए। उससे आजीवन और कालान्तर से भी फल की प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

भूख से सूखकर ठूँठ पेड़ के समान निर्जीव हो जाना ठीक है, किन्तु ज्ञानहीन ऐश्वर्यशाली से बुद्धिमान को कभी भी जीविका की इच्छा नहीं करनी चाहिये ॥ ५ ॥

सेवक कंजूस स्वामी की कठोर वाणी से निन्दा करता है, किन्तु उसे पहले अपनी निन्दा करनी चहिये, क्योंकि उसने सेव्य (सेवा करने योग्य) और असेव्य (सेवा न करने योग्य) का ज्ञान ही नहीं प्राप्त किया ॥ ६ ॥

जिस स्वामी के आश्रय में रहकर भूखे सेवक शान्ति न पा सकें, धन-धान्य

सोऽर्कवन्नृपतिस्त्याज्यः सदा पुष्पफलोऽपि सन् ॥ ७ ॥
राजमातरि देव्यां च कुमारे मुख्यमन्त्रिणि ।
पुरोहिते प्रतीहारे सदा वर्तेत राजवत् ॥ ८ ॥
जीवेति प्रब्रुवन् प्रोक्तः कृत्याकृत्य–विचक्षणः ।
करोति निर्विकल्पं यः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ९ ॥
अन्तःपुरचरैः सार्धं यो न मन्त्रं समाचरेत् ।
न कलत्रैर्नरेन्द्रस्य स भवेद्राज–वल्लभः ॥ १० ॥
द्यूतं यो यमदूताभं हालां हालाहलोपमाम् ।
पश्येद्दारान् वृथाकारान् स भवेद्राजवल्लभः ॥ ११ ॥
युद्धकालेऽग्रगो यः स्यात् सदा पृष्ठानुगः पुरे ।
प्रभोर्द्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभः ॥ १२ ॥
द्वेषिद्वेषपरो नित्यमिष्टानामिष्टकर्मकृत् ।
यो नरो नरनाथस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ १३ ॥

से युक्त होते हुए भी उस स्वामी को फल-पुष्प वाले मदार की तरह छोड़ देना चाहिए ॥ ७ ॥

राजमाता, महारानी, कुमार और मुख्य मन्त्री के साथ वही वर्ताव करना चाहिए जो राजा के प्रति किया जाता है ॥ ८ ॥

जो अच्छे बुरे कार्यों के समझने में चतुर होता है, बुलाने पर 'जयजीव' कह कर स्वामी का स्वागत करता है तथा बिना विचारे जो राजा की आज्ञा का पालन करता है वही राजा का प्रिय होता है ॥ ९ ॥

जो सेवक अन्तःपुर (रानियों के महल) में रहने वाले सेवकों से बातचीत नहीं करता तथा जो राजा की पत्नियों से नहीं बोलता वही राजा का प्रिय पात्र होता है ॥ १० ॥

जो जुए को यमदूत, शराब को विष और स्त्रियों को कुरूपा समझता है वही राजा का प्रियपात्र होता है ॥ ११ ॥

जो युद्ध के समय राजा के आगे, नगर में चलने के समय पीछे और महल में रहने के समय दरवाजे पर स्थित रहता है वही राजा का प्रियपात्र होता है ॥ १२ ॥

जो सेवक राजा के शत्रु के साथ शत्रुता और उनके प्रिय जनों के साथ मधुर व्यवहार करता है वही राजा का प्रियपात्र होता है ॥ १३ ॥

प्रोक्तं प्रत्युत्तरं नाह विरुद्धं प्रभुणा च यः।
न समीपे हसत्युच्चैः स भवेद्राजवल्लभः ॥ १४ ॥

स्थाने नियोगः

स्थानेष्वेव नियोक्तव्या भृत्याश्चाभरणानि च।
नहि चूडामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ॥ १ ॥
अनभिज्ञो गुणानां यो न भृत्यैरनुगम्यते।
धनाढ्योऽपि कुलीनोऽपि क्रमायातोऽपि भूपतिः ॥ २ ॥
असमैः समीयमानः समैश्च परिहीयमाणसत्कारः।
धुरि यो न युज्यमानस्त्रिभिरर्थपतिं त्यजति भृत्यः ॥ ३ ॥
कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते।
न स विरौति न चापि स शोभते भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ४ ॥

जो सेवक किसी बात के पूछने पर स्वामी के विरुद्ध उसका उत्तर नहीं देता और न तो उसके पास ठठाकर हँसता वही राजा का प्रिय पात्र होता है ॥ १४ ॥

—:o:—

उचित स्थान पर नियुक्ति

सेवक और आभूषण को उचित स्थान पर ही नियुक्त करना चाहिए। कोई आदमी यह समझकर कि मैं समर्थ हूँ, चूड़ामड़ि को पैरों में नहीं बांध सकता ॥ १ ॥

धनाढच, कुलीन और वंशपरम्परा से राजा होने पर भी जो गुणों का पारखी नहीं होता, सेवक उसका साथ नहीं देते ॥ २ ॥

राजा जिस सेवक को उससे नीचे दरजे के सेवकों के समान समझता है, समान दरजे वालों के अनुसार सत्कार नहीं करता तथा उच्च पद पर आसीन नही करता वह सेवक राजा का परित्याग कर देता है ॥ ३ ॥

सोने के आभूषण में लगाई जाने वाली मणि यदि बुरी धातु में जड़ दी जाय तो वह न तो रोएगी और न तो शोभा ही बढ़ायेगी बल्कि उससे तो उसके जड़ने वाले की ही निन्दा होगी ॥ ४ ॥

सव्य-दक्षिणयोर्यत्र विशेषो नास्ति हस्तयोः ।
कस्तत्र क्षणमप्यार्यो विद्यमान-गतिर्वसेत् ॥ ५ ॥
काचे मणिर्मणौ काचो येषां बुद्धिर्विकल्पते ।
न तेषां सन्निधौ भृत्यो नाममात्रोऽपि तिष्ठति ॥ ६ ॥
परीक्षका यत्र न सन्ति देशे नार्घन्ति रत्नानि समुद्रजानि ।
आभीरदेशे किल चन्द्रकान्तं त्रिभिर्वराटैर्विपणन्ति गोपाः ॥७॥
लोहिताख्यस्य च मणेः पद्मरागस्य चान्तरम् ।
यत्र नास्ति कथं तत्र क्रियते रत्नविक्रयः ॥ ८ ॥
निर्विशेषं यदा स्वामी समं भृत्येषु वर्त्तते ।
तत्रोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ ९ ॥
न विना पार्थिवा भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना ।
तेषां च व्यवहारोऽयं परस्पर-निबन्धनः ॥ १० ॥
भृत्यैर्विना स्वयं राजा लोकानुग्रहकारिभिः ।

जिस स्थानपर दाहिने बाएँ हाथ का विशेष नहीं हैं अर्थात् जहाँ मित्र-शत्रु एक ही भाव से देखे जाते हैं वहाँ सभी जगह जा सकने वाले श्रेष्ठ लोग क्षणमात्र भी नहीं रह सकते ॥ ५ ॥

जिनकी बुद्धि काँच में मणि और मणि में काँच का विकल्प करती है अर्थात् बुरे को अच्छा और अच्छे को बुरा समझती है उसके पास सेवक नाममात्र के लिये भी नही ठहरते ॥ ६ ॥

जिस देश में रत्नों की परीक्षा करने वाले नहीं होते वहाँ समुद्र से उत्पन्न रत्नों का कोई मूल्य ही नहीं आँका जाता। ऐसे अहीरों के देश में तो ग्वाले चन्द्रकान्त मणि को भी तीन कौड़ी में खरीद लेते हैं ॥ ७ ॥

लालमणि तथा पद्मरागमणि में जहाँ कोई भी अन्तर नहीं समझा जाता वहाँ भला रत्न कैसे बेचे जा सकते हैं ॥ ८ ॥

जहाँ स्वामी सभी सेवकों में उनकी विशेषता का ध्यान न रखकर समानरूप से व्यवहार करता है वहाँ उद्यमी सेवक का उत्साह कम हो जाता है ॥ ९ ॥

सेवक के बिना राजा नहीं और राजा के बिना सेवक नहीं। यह अन्योन्याश्रय सम्बन्ध ही उनका व्यवहार है ॥ १० ॥

सेवकों के बिना, तेजस्वी होते हुए भी राजा उसी प्रकार सुशोभित नहीं होता

मयूखैरिव दीप्तांशुस्तेजःस्वपि न शोभते ॥ ११ ॥
अरैः संधार्यते नाभिर्नाभौ चाराः प्रतिष्ठिताः ।
स्वामि-सेवकयोरेवं वृत्ति-चक्रं प्रवर्तते ॥ १२ ॥
शिरसा विधृता नित्यं स्नेहेन परिपालिता ।
केशा अपि विरज्यन्ते निःस्नेहाः किं न सेवकाः ॥ १३ ॥
राजा तुष्टो हि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति ।
ते तु सम्मानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ १४ ॥
एवं ज्ञात्वा नरेन्द्रेण भृत्याः कार्या विचक्षणाः ।
कुलीनाः शौर्यसंयुक्ताः शक्ता भक्ताः क्रमागताः ॥ १५ ॥
यः कृत्वा सुकृतं राज्ञो दुष्करं हितमुत्तमम् ।
लज्जया वक्ति नो किंचित्तेन राजा सहायवान् ॥ १६ ॥
यस्मिन् कृत्यं समावेश्य निर्विशङ्केन चेतसा ।
आस्यते सेवकः स स्यात् कलत्रमिव चापरम् ॥ १७ ॥

जैसे संसार पर अनुग्रह करने वाली किरणों के बिना तेजस्वी होते हुए भी सूर्य नहीं शोभित होता ॥ ११ ॥

जिस प्रकार आरे में पुट्ठी और पुट्ठी में आरा स्थित होता है उसी प्रकार स्वामी और सेवक के कार्य चक्र भी एक दूसरे से संबंधित होते हैं ॥ १२ ॥

शिर पर धारण किये गये तथा तेल लगा कर पाले-पोसे गये बाल भी जब स्नेह (तेल) के बिना रूखे हो जाते हैं तो सेवक का कहना ही क्या ! वह भी स्वामी के स्नेह के अभाव में उसके प्रति रूखा हो जाता है ॥ १३ ॥

राजा सेवक के ऊपर प्रसन्न होकर उसे केवल धन से संतुष्ट करता है किन्तु सेवक स्वामी से सम्मान मात्र पाकर अपने प्राणों को देकर भी उसका भला करता है ॥ १४ ॥

ऐसा जानकर राजा को कार्य-चतुर, कुलीन, पराक्रमी, शक्तिशाली, स्वामिभक्त और कुल-परम्परा से सेवक पुरुषों को ही सेवक बनाना चाहिए ॥ १५ ॥

जो सेवक राजा के कठिन से कठिन हितकर कार्यों को भी करके लज्जा से कुछ नही कहता, सचमुच वही राजा का सहायक होता है ॥ १६ ॥

जिस सेवक के ऊपर कार्य का भार सौंपकर राजा शंकारहित हो जाता है, ऐसा सेवक राजा की दूसरी पत्नी के समान पालनीय होता है ॥ १७ ॥

योऽनाहूतः समभ्येति द्वारि तिष्ठति सर्वदा ।
पृष्टः सत्यं प्रियं ब्रूते स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ १८ ॥
अनादिष्टोऽपि भूपस्य दृष्ट्वा हानिकरं च यः ।
यतते तस्य नाशाय स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ १९ ॥

महाकविर्भारविः

(ई०—५५०)

प्रकाशं सर्वतो दिव्यं विदधाना सताम्मुदे ।
प्रबोधनपरा हृद्या भारवेरिव भा रवेः ॥

किरातार्जुनीयं नाम काव्यं तत्र भवतः कविकुलतिलकस्य दाक्षिणात्यस्य श्रीमतो भारविनाम्नो महाकवेः सुधावर्षिलेखनीप्रसूतमतिप्राचीनं महाकाव्यम् । काव्यमेतन्म हाभारतस्य कुरुराजदुर्योधननिर्जितानां द्वैतवनमधिवसतां युधिष्ठिर-प्रमुख-पांडवानां तात्कालिकवृत्तान्तविशेषमवलम्ब्य विरचितम् । अत्र च तेषामन्यतमस्यामोघवीर्यशालिनोऽर्जुनस्य परिगृहीतकिरातवेशात् पशुपतेरस्त्रलाभो विशेष इति किरातार्जुनीयमिति नाम्ना ग्रन्थोऽयं प्रसिद्धः । वीररसप्रधानमिदं काव्यम् । विपुलार्थानामल्पशब्देषु सन्निवेश एतस्य सुप्रसिद्धकाव्यकलाचातुरी । किरातार्जुनीयं नाम महाकाव्यं कालीदासकृतकतिपयसाहित्यमन्तरेणाधुनास्मद्देशप्रचलितानां काव्यानां मूर्घ्नि वर्तते । राजनीतेरत्यधिकमुत्कर्षं दर्शितवान् स भारविः । एतस्य पञ्चमदशमसर्गस्थं सकलमपि पद्यं चित्रकाव्यम्—

उक्तञ्चात्र टीकाकृता मल्लिनाथेन—

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि यद्विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥ इति ॥

जो बिना बुलाये हाजिर रहता है, जो सर्वदा दरवाजे पर बैठा रहता, है पूछने पर सत्य और प्रिय बोलता है, वही सेवक राजा के योग्य होता है ॥ १८ ॥

जो राजा की आज्ञा पाए बिना ही उसकी हानिकर वस्तुओं को देखकर उनका विनाश करने में प्रयत्न करता है वही सेवक राजा के योग्य होता है ॥ १९ ॥

उद्बोधनम्

(किरातार्जुनीयात्)

[इमे लोकाः महाकवि भारवि-प्रणीत-किरातार्जुनीयमहाकाव्यस्य प्रथमसर्गादुद्धृताः । द्यूते पराजिता पाण्डवा द्वैतवने वसन्ति स्म । युधिष्ठिरो ब्रह्मचारिवेषधारिणमेकं वनेचरं दुर्योधनस्य राज्य-समाचारं ज्ञातुं प्रेषितवान् । स वनेचरः दुर्योधनस्य राज्यं विलोक्य तस्य प्रशंसा युधिष्ठिरस्य समीपे अकरोत् । तत् श्रुत्वा दुःखिता द्रौपदी युधिष्ठिरस्य क्रोधमुद्योगं च उद्बोधयति ।]

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा ।
नृपस्य मन्यु-व्यवसाय-दीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः ॥ १ ॥
भवादृशेषु प्रमदा-जनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्त-नारी-समया दुराधयः ॥ २ ॥
अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः ।
त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥ ३ ॥
व्रजन्ति ते मूढ-धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥ ४ ॥

उद्बोधन

अपने शत्रुओं की सफलता सुनकर उससे होने वाले अपने मानसिक क्षोभ को रोकने में असमर्थ द्रौपदी युधिष्ठिर के क्रोध और शत्रुनाश के प्रयत्न को बढ़ावा देने वाली बाते बोलने लगी ॥ १ ॥

हे राजन् ! स्त्री द्वारा दिए गये उपदेश आप ऐसे लोगों के लिए अपमान के तुल्य हैं फिर भी मेरे हृदय की पीड़ाएँ स्त्रियों के शील का विनाश करके मुझे कुछ कहने के लिए प्रेरित कर रही हैं ॥ २ ॥

इन्द्र के समान पौरुष वाले अपने वंश के राजाओं ने जिस पृथ्वी को चिरकाल तक अपने अधीन रखा था उसे आपने अपने ही हाथों से उसी प्रकार खो दिया जैसे मद से मतवाला हाथी अपने गले की माला तोड़ कर फेंक देता है ॥ ३ ॥

जो कपटी व्यक्तियों के साथ कपटी नहीं बनते हैं वे मूर्ख दूसरों से पराजित कर दिये जाते हैं । जैसे नंगे बदन वाले सिपाही के शरीर में तेज बाण घुसकर उसे मार डालते हैं उसी प्रकार कपटी भी सरल लोगों के घर में प्रवेश करके उसका विनाश कर डालते हैं ॥ ४ ॥

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥ ५ ॥
भवन्तमेतर्हि मनस्वि-गर्हिते विवर्त्तमानं नरदेव! वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥ ६ ॥
अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥ ७ ॥
परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः ॥ ८ ॥
विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्क-वासांसि तवाधुनाऽऽहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः ॥ ९ ॥
वनान्त-शय्या-कठिनी-कृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।

अनुकूल सहायक के होते हुए भी आपके अतिरिक्त ऐसा दूसरा कौन स्ववंशाभिमानी राजा होगा जो गुणों से प्रेम करने वाली कुलीन गृहलक्ष्मी के समान मनोहर राजलक्ष्मी को दूसरों के हाथ में सौंप दे! (अर्थात् जो स्त्री की रक्षा नहीं कर सका वह राज्य की रक्षा क्या करेगा?) ॥ ५ ॥

हे राजन्! मनस्वी पुरुषों के निन्दनीय मार्ग में ठहरे हुए आपको आप ही के भीतर से उठने वाली क्रोध की अग्नि सूखे शमी के पेड़ से निकली हुई आग के समान क्यों नहीं जला देती। अर्थात् आप में क्रोध से भी उत्तेजना क्यों नहीं आ रही है? ॥ ६ ॥

जिसका क्रोध कभी भी व्यर्थ नहीं जाता और जो अपनी विपत्तियों का स्वयं विनाश करने वाला होता है, लोग उसके अधीन आपसे आप हो जाते हैं। किन्तु जो व्यक्ति क्रोधशून्य होता है, उसके प्रेमी भी उसका आदर नहीं करते और न शत्रु ही उससे भयभीत होते हैं ॥ ७ ॥

अपने शरीर में लाल चन्दन लगाने वाले तथा रथ द्वारा चलने वाले यह भीम आज पहाड़ की तराई में पैदल घूमने के कारण धूलि-धूसरित से दिखाई पड़ रहे हैं। क्या उनकी यह दशा आप जैसे सत्यवादी के हृदय को पीड़ा नहीं पहुंचाती? ॥

इन्द्रतुल्य पराक्रमी जिस अर्जुन ने उत्तर कुरु के देशों को जीतकर आपको अतुल धन दिया था; आज वही वृक्षों की छाल पहिने दिखाई पड़ रहे हैं, क्या इससे भी आपका क्रोध नहीं उद्दीप्त हो रहा है ॥ ९ ॥

जंगल में कठिन भूमि पर सोने के कारण कठोर शरीर वाले तथा जंगली

कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ॥ १० ॥
इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः ।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः ॥ ११ ॥
पुराऽधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः ।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः ॥ १२ ॥
पुरोपनीतं नृप रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा ।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः ॥ १३ ॥
अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः ।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ॥ १४ ॥
द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।

हाथी के समान अपने सिर पर बाल बिखराए हुए ये नकुल और सहदेव क्या आपको धैर्य-नियमों को तोड़ने के लिए उत्साहित नहीं करते अर्थात् इनकी जंगलियों-सी दशा को भी देखकर आपका धैर्य टूट नहीं जाता ? ॥ १० ॥

मैं आपकी इस बुद्धि को समझ ही नहीं पा रही हूं, मनुष्य की भावनाएं भी कितनी विचित्र होती हैं। आपकी इस महान दुर्गति को जब मैं सोचती हूं तो मेरी मानसिक पीड़ाएं हठात् मेरे हृदय को दुखी बना देती हैं, किन्तु आपको जैसे कुछ मालूम ही नहीं पड़ता ? ॥ ११ ॥

हे राजन् ! पहले आप बहुमूल्य बिछौने पर सोते थे और बन्दियों के मांगलिक प्रार्थना-गीतों से जगाये जाते थे किन्तु अब आप कुश-काँटों से आच्छादित भूमि पर सोते हैं और सियारों के अमंगल शब्दों को सुनकर जागते हैं। (आप अपनी क्या से क्या हो जाने वाली दशा पर कुछ विचार नहीं करते ?) ॥ १२ ॥

हे राजन् ! पहिले आपका जो यह शरीर ब्राह्मण-भोजन से बचे हुए अन्न द्वारा अत्यन्त रमणीय बन गया था आज वही जंगली फलों का भोजन करने से आपकी कीर्ति के साथ ही अत्यन्त दुर्बल हो गया है अर्थात् आपकी कीर्ति और शरीर दोनों नष्ट हो रहें हैं ॥ १३ ॥

आपके जो चरण मणियों की चौकी पर रहते थे तथा निरन्तर राजाओं के मस्तक की मालाओं के पराग से सुशोभित होते रहते थे, आज वही हरिनों और ब्राह्मणों से काटे हुए कुशों के ऊपर पड़ते हुए दिखाई देते हैं ॥ १४ ॥

आपकी यह दशा शत्रुओं के कारण ही हुई है—यही भावना मेरे मन को जड़ से उखाड़ सी दे रही है ! हाँ, शत्रुओं से पराजित न होने वाले अभिमानी

परंरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥१५॥
विहाय शान्तिं नृप ! धाम तत्पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम् ।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥१६॥
पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य विकारमीदृशम् ।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त ! हता मनस्विता ॥१७॥
अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम् ।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्मकार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥१८॥
न समय-परिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः ।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधिसन्धिदूषणानि ॥१९॥

—*—

पुरुष यदि दैवत्रशात् दुर्दशा में पड़ जायँ तो उनकी वह दुर्गति भी उत्सव ही के समान प्रतीत होती है ॥ १५ ॥

हे राजन्, अब तो कृपा करें और इस वैराग्य को छोड़ कर शत्रुओं का वध करने के लिए अपने पहिले तेज को धारण करें। इस निष्काम भावना से मुनि लोग ही अपने शत्रुओं (काम-क्रोधादि) को पराजित करके ब्रह्म-प्राप्ति रूपी सिद्धि प्राप्त करते हैं न कि राजा लोग इस भावना से शत्रुओं को पराजित करके राज्य लक्ष्मी प्राप्त कर सकते हैं ॥ १६ ॥

और यदि आप जैसे तेजस्वियों में श्रेष्ठ यशस्वी लोग इस प्रकार की असहनीय दुर्गति में पहुंच कर उसी में संतुष्ट रहने लगे तब तो स्वेच्छाचारिता बेचारी निराधार होने से समाप्त हो चुकी ॥ १७ ॥

और यदि आप पौरुष को छोड़ कर क्षमाशीलता ही को चिरकालीन सुखों का साधन समझते हैं तो राजाओं के चिह्न इस धनुष को छोड़कर जटाधारी बन के अग्नि में हवन करने का कार्य कीजिए ॥ १८ ॥

सर्वदा कपट में लगे रहने वाले दुश्मनों से आप जैसे तेजस्वी पुरुष का समय की प्रतीक्षा करते रहना ठीक नहीं (अर्थात् आप तो संधिकाल समाप्त होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं और शत्रु कपट करने में लगे हुए हैं) क्योंकि शत्रुओं को जीतने की अभिलाषा रखने वाले राजा शत्रु से की गई सन्धि को छल द्वारा दूषित कर देते हैं अर्थात् सन्धि भङ्ग कर देते हैं ॥ १९ ॥

—:०:—

त्रिविक्रमभट्टः

(ई०—१६१५)

(मदालसाचम्पूतः)

[कुवलयाश्वेन गालवाश्रमे राक्षसवधः ।]

गालवादिमुनिभिः स सत्कृतो, राजसूनुरथ तापसाश्रमे ।
दुष्टसत्त्वदमनाय वाजिना बाणकार्मुककरश्चचार सः ॥ १ ॥

कृत्वा गतासून् करिणस्तरक्षून्
हत्वा मृगेन्द्रान् विनिपात्य भीमान् ।
अपास्तबाधं विदधे स वीर-
स्तपोवनं तापसपुङ्गवस्य ॥ २ ॥

तदीयास्त्रनिर्भिन्नकुम्भीन्द्रकुम्भ-
स्खलद्रक्तमुक्तापरीता धरित्री ।
मिलत्सान्ध्यरागोडुजालस्य शङ्कां
विधत्ते नितान्तं नभोमण्डलस्य ॥ ३ ॥

मुनिकुमारनिरूपितविस्मय-
स्थलविलोकनजातकुतूहलः ।
कतिपयान् दिवसान् समनीनयन्-
मुनिगृहे नरदेवतनूभवः ॥ ४ ॥

(गालव के आश्रम में कुबलयाश्व का राक्षस मारना)

उस तपोभूमि में गालव आदि मुनियों से सत्कार पाकर राजपुत्र कुबलयाश्व दुष्ट प्राणियों को मारने के लिए घोड़े पर सवार हो हाथ में धनुषबाण लेकर घूमने लगा ॥

उसने मतवाले हाथियों को निष्प्राण कर चीतों को मार डाला और भयङ्कर सिंहों को मारकर गिरा दिया। इस प्रकार उसने उस तपस्वी के आश्रम को बाधाओं से रहित बना दिया ॥ २ ॥

उसके अस्त्रों से बिंधे हुए हाथियों के गण्डस्थल से खून भरे झरते हुए मोतियों से भरी हुई पृथ्वी संध्याकालीन लालिमा में दिखाई देने वाले तारों युक्त आकाश की भांति प्रतीत होने लगी ॥ ३ ॥

मुनिकुमारों से बताए गए आश्चर्ययुक्त स्थानों की शोभा देखकर कुतूहल में पड़े हुए उस राजकुमार ने मुनि के घर में कुछ दिन निवास किया ॥ ४ ॥

अथ कदाचित्—

वीरोत्तंसं क्षितिपतिसुतं नाश्रमस्थं विजानन्
सन्ध्योपास्तिप्रवणहृदयं गालवं तं महर्षिम् ।
मत्तः कोऽपि प्रचलमनसं धर्षणाद्यैश्चिकीर्षु-
र्धर्मारण्यं दनुजहतकः प्राविशद् घोणिरूपः ॥ ५ ॥

ततः—

छिन्न–च्छाया–तरु–कलुषित–स्वच्छ–कासार–नीरं,
दंष्ट्रा–कृत्तोत्त्रुटित–लतिकं व्यस्त–मुस्ता–कदम्बम् ।
त्रासोद्रेकाच्चलितविहगं भीतधावत्कुरङ्गं,
चक्रेऽरण्यं स दनुजकिटिस्तापसानां निवासम् ॥ ६ ॥

तादृशे तपोवने—

आरोहन्ति तरून् विमुक्त-समिधस्त्रासोत्कटा वर्णिन-
स्त्यक्त्वा सेकविधिं मुनीन्द्र–तनया धावन्ति पृथ्वीरुहाम् ।
तिष्ठन्तो मुनयोऽपि मुक्तनियमा हन्तुं यतन्ते कुशै-
र्गोपायन्ति कुलस्त्रियोऽपि यमिनां नीवारमूलादिकम् ॥ ७ ॥

उन वीरों में श्रेष्ठ राजकुमार का आश्रम में रहना न जानकर सन्ध्योपासना में मग्न महर्षि गालब को रगड़ कर ध्यान भंग करने की अभिलाषा से एक राक्षस ने शूकर का रूप धारण कर उस तपोवन में प्रवेश किया ॥ ५ ॥

उसने छायेदार वृक्षों को तोड़ डाला, तालाबों के जल को गन्दा कर दिया, अपनी डाढ़ों से लताओं को काट डाला, और मोथों के समूहों को इधर–उधर बिखेर दिया, उसके भय की अधिकता से पक्षीगण उड़ने लगे, हरिन भयभीत होकर भागने लगे। इस प्रकार उस शूकर रूपधारी राक्षस ने तपस्वियों के उस आश्रम को जंगल के समान भयावना कर दिया ॥ ६ ॥

उस तपोवन में उससे अत्यन्त भयभीत होकर ब्रह्मचारी समिधा (यज्ञ के लिए इकट्ठी की जाने वाली लकड़ी) को छोड़कर वृक्षों पर चढ़ने लगे, मुनियों की

इदं सर्वं ज्ञात्वा राजपुत्रः—
रोषातिरेक-परिपाटल-नेत्र-पद्मः,
सज्जं विधाय धनुरश्वमथाधिरुह्य ।
बाणेन तं समधिगम्य जघान दुष्टं
घृष्टिं महाशनि-निपात-निभेन तूर्णम् ॥ ८ ॥
तद्बाणाभिहतः स दानवकिटिः स्वप्राणरक्षातुर-
स्तीर्त्वा पर्वत-गुल्म-पादप-लता-सम्बाध-दुर्गाटवीम् ।
धावं धावमतीत-योजन-शतो विस्तारयन् घुर्घुरं
कस्मिँश्चिन्निपपात भूमि-कुहरे घोरान्धकारावृते ॥ ९ ॥

—:*:—

श्रीजयदेव

(ई०—११००)

आसीत् केन्दुबिल्वग्रामवासिमहाकविः जयदेवः अयं भोजदेवप्रभवः राधादेवीगर्भजः, गीतगोविन्दाख्यं काव्यञ्चकार । इदञ्च मृदुलपदसरणिललितं, रुचिरार्थसंहीतिबहुलं सरसरागनिबद्धसुप्रबन्धप्रधानम्, शृङ्गाररसभाण्डागारसदृशं द्वादशसर्गात्मकमस्ति । कथितञ्च कविना—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मृदुलकोमल-कान्तपदावलीं
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥

कन्याएं पौधों का सींचना छोड़कर भागने लगीं, राग-द्वेष से रहित मुनि लोग भी नियम त्यागकर खड़े होकर उसे कुशों से मारने का प्रयत्न करने लगे और मुनियों की स्त्रियां भी नीवार और कन्दमूल आदि पदार्थों को बचाने लगीं ॥७॥

यह सब जानकर क्रोध के कारण लाल-लाल कमल के समान नेत्र वाले उस राजकुमार ने घोड़े पर चढ़कर धनुष चढ़ा करके उस शूकररूप दुष्ट राक्षस को लक्ष्य करके महान वज्रपात के समान बाणों को चलाकर मारा ॥ ८ ॥

उसके बाणों से घायल होकर राक्षस शूकर अपने प्राणों की रक्षा के लिए पर्वतों, झाड़ियों, पेड़ों और लताओं से भरे भयंकर जंगल को पार करके घुरघुराते हुए सैकड़ों योजन भागते-भागते एक भयंकर अन्धकार से भरे हुए पृथ्वी के गड्ढे में गिर पड़ा ॥ ९ ॥

—:०:—

यद् गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं न यद्वैष्णवं
तच्छृङ्गारविवेकतत्त्वरचना काव्येषु लीलायितम्।
तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकता नात्मनः
सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः ॥

दशावतार-वर्णनम्

(गीतगोविन्दात्)

प्रलय-पयोधि-जले-धृतवानसि वेदं,
विहित-वहित्र-चरित्रमखेदम्।
केशव, धृतमीन-शरीर, जय जगदीश ! हरे ! ॥ १ ॥
क्षितिरतिविपुलतरे तव तिष्ठति पृष्ठे,
धरणि-धरण-किण-चक्र-गरिष्ठे।
केशव, धृत-कच्छप-रूप, जय जगदीश ! हरे ॥ २ ॥
वसति दशन-शिखरे धरणी तव लग्ना,
शशिनि कलङ्क-कलेव निमग्ना।
केश, धृत-शूकर-रूप, जय जगदीश ! हरे ! ॥ ३ ॥

दशावतार-वर्णन

हे मछली का रूप धारण करने वाले संसार के स्वामी भगवान केशव ! आपकी जय हो। आपने प्रलय काल के समुद्र-जल में बड़ी सरलता से नौका रूप होकर वेदों का उद्धार किया था। ॥ १ ॥

हे कछुवे का रूप धारण करने वाले संसार के स्वामी भगवान केशव ! आपकी जय हो। आपकी पृथ्वी के धारण करने के चिह्नों से कठोर पीठ पर पृथ्वी सदा विराजमान रहती है ॥ २ ॥

हे सूकर का रूप धारण करने वाले संसार के स्वामी भगवान केशव ! आपकी जय हो। जैसे चन्द्र में कलंक की रेखा सुशोभित होती रहती है उसी प्रकार आपके दांतों के ऊपर टिकी हुई यह पृथ्वी सुशोभित होती है ॥ ३ ॥

हे नृसिंह का रूप धारण करने वाले संसार के स्वामी भगवान केशव !

तव करकमलवरे नखमद्भुतशृङ्गम्
दलितहिरण्यकशिपुतनुभृङ्गम् ।
केशव ! धृतनरहरिरूप, जय जगदीश ! हरे ! ॥ ४ ॥
छलयति विक्रमणे बलिमद्भुतवामन !
पदनखनीरजनितजनपावन !
केशव ! धृतवामनरूप, जय जगदीश ! हरे ! ॥ ५ ॥
क्षत्रियरुधिरमये जगदपगतपापं
स्नपयसि पयसि शमितभवतापम् ।
केशव ! धृतभृगुपतिरूप, जय जगदीश ! हरे ! ॥ ६ ॥
वितरसि दिक्षु रणे दिक्पतिकमनीयम्
दशमुखमौलिबलिं रमणीयम् ।
केशव ! धृतरामशरीर, जय जगदीश ! हरे ! ॥ ७ ॥
निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्
सदय-हृदय-दर्शितपशुघातम् ।
केशव ! धृतबुद्धशरीर, जय जगदीश ! हरे ! ॥ ८ ॥

आपकी जय हो । आपके चरणकमलों में विचित्र नखरूपी सींग था जिससे आपने हिरण्यकशिपु के शरीर रूपी भौंरे को विदीर्ण कर डाला था ॥ ४ ॥

हे वामन का रूप धारण करने वाले संसार के स्वामी भगवान केशव ! आपकी जय हो । आपने विचित्र वामन रूप धारण करके बलि को छल लिया और अपने पैरों के नख से निकलने वाले गंगा जल से संसार के लोगों को पवित्र कर दिया ॥

हे परशुराम का रूप धारण करने वाले जगत के स्वामी भगवान केशव ! आपकी जय हो । आपने क्षत्रियों के रक्त रूपी जल में स्नान करके सारे संसार को पाप और कष्ट से रहित कर दिया ॥ ६ ॥

हे राम का रूप धारण करने वाले भगवान केशव आपकी जय हो । आपने युद्ध में दशों दिशाओं में रहने वाले दिशाओं के स्वामियों को रावण के दशों सिरों को काट कर बलि के रूप में चढ़ा दिया ॥ ७ ॥

हे बुद्ध के रूप में जन्म लेने वाले संसार के स्वामी भगवान केशव ! आपकी जय हो । आपने यज्ञो में होने वाले पशुओं की हत्या देख कर अत्यन्त करुण हृदय से वेदों से प्रमाणित यज्ञ के विधानों की निन्दा की थी और अहिंसा कर्म का प्रचार किया था ॥ ८ ॥

वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभम्
हलहतिभीतिमिलितयमुनाभम् ।
केशव ! धृतहलधररूप, जय जगदीश ! हरे ! ॥ ९ ॥
म्लेच्छनिवहनिधने कलयसि करवालम्
धूमकेतुमिव किमपि करालम् ।
केशव ! धृतकल्किशरीर, जय जयदीश ! हरे ! ॥ १० ॥
श्रीजयदेवकवेरिदमुदितमुदारम्
शृणु सुखदं शुभदं भवसारम् ।
केशव ! धृतदशविधरूप, जय जगदीश ! हरे ! ॥ ११ ॥

हे हल को धारण करने वाले भगवान केशव ! आपकी जय हो । आप अपने शरीर पर मेघ के समान नीले रंग का वस्त्र धारण करते हैं । जो ऐसा प्रतीत होता है मानो आपके हलके प्रहार से डरी हुई यमुना ही आपके शरीर में लिपटी हुई हो ॥ ९ ॥

हे कल्कि का शरीर धारण करने वाले संसार के स्वामी भगवान केशव ! आपकी जय हो । आपने म्लेच्छों का विनाश करने के लिए धूमकेतु के समान भयंकर तलवार को धारण किया ॥ १० ॥

हे दशरूपों को धारण करने वाले संसार के स्वामी भगवान केशव ! आपकी जय हो । आप कृपा करके जयदेव कवि द्वारा बनाए गए अत्यन्त उदार, सुखदायक, कल्याणप्रद और संसार में सार तत्त्व रूप इस स्तोत्र को सुनने की कृपा करें ॥ ११ ॥

—:०:—

सूक्ति-संग्रहः

(१) शिवलीला

स्वयं सुरेशः श्वशुरो नगेशः, सखा धनेशस्तनयो गणेशः ।
तथापि भिक्षाटनमेव शम्भोः, बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा ॥ १ ॥

एका भार्या समररसिका निम्नगा च द्वितीया,
पुत्रोऽप्येको द्विरदवदनः षण्मुखश्च द्वितीयः ।
नन्दी भृङ्गी च कपिवदनो वाहनं पुङ्गवेशः,
स्मारं स्मारं स्वगृहचरितं भस्मदेहो महेशः ॥ २ ॥

दोषाकरः शिरसि भाति गले द्विजिह्वः
पाषाणजा सहचरी पशुरन्तरङ्गः ।
दुःखं निवेदयति को भवदन्तिके मे,
त्वञ्च त्रिलोचन निमीलित-लोचनोऽसि ॥ ३ ॥

शिवलीला

श्रीशंकरजी स्वयम् देवताओं के स्वामी हैं, उनके ससुर पर्वतों के राजा हिमालय हैं, उनके मित्र धन के स्वामी कुबेर हैं, उनके पुत्र देवताओं के स्वामी गणेश हैं । इतना होने पर भी शंकरजी को भीख ही मागनी पड़ती है । इससे तो यही सिद्ध है कि केवल भगवान की इच्छा ही सबसे बलवान होती है ॥ १ ॥

शंकरजी की एक पत्नी (चंडी) युद्ध से प्रेम करने वाली हैं, दूसरी (गंगा) नीचे की ही ओर जानेवाली हैं । एक पुत्र हाथी का मुख वाला और दूसरा छः मुख वाला है । बंदर के जैसा मुख वाला सेवक भृङ्गी और सवारी नन्दी बैल हैं । इस प्रकर अपने पूरे परिवार का स्मरण करके ही शंकर जी भस्मधारी बन गए हैं ॥ २ ॥

हे भगवान ! आपके सिर पर चन्द्रमा=दोषों का घर है, गले में दो जीभ वाला सर्प है (वह भी बड़ा कुटिल है), आपकी पत्नी पाषाण (हिमालय) से उत्पन्न होने वाली पार्वती हैं और पशु आपके मित्र हैं, फिर आपके पास मेरी पीडाओं को कौन कह सुनाये क्योंकि आप तीन नेत्र होते हुए भी आँख मूंदे बैठे हैं (अर्थात् आप न मेरा दुख सुनते हैं, न देखते हैं) ॥ ३ ॥

भूषा-भस्म भुजङ्गमास्थिनिचयः स्थानं श्मशानं प्रियं,
त्रैलोक्यापचयोद्यातं विषमपि त्यक्त्वाऽमृतं स्वीकृतम् ।
यत्त्यक्तं सकलैः सुरासुरनरैस्तत्ते प्रियं प्रायश-
स्त्यक्तुं नार्हसि देव मामपि यतस्त्यक्तोऽस्मि सर्वैः प्रभो ॥ ४ ॥

काला कान्ता विषमनयना सर्वदा युद्धशीला,
पुत्रोऽप्येकः करिवरमुखी षण्मुखश्च द्वितीयः ।
भृत्यश्रेष्ठः कपिवरमुखो वाहनं वृद्ध उक्षाः,
स्मारं स्मारं स्वगृहचरितं मृन्मयो विश्वनाथः ॥ ५ ॥

वृद्धोक्षः प्रपलायते प्रतिदिनं सिंहावलोकाद् भिया,
पश्यन् मत्तमयूरमन्तिकचरं भूषाभुजङ्गव्रजः ।
कृत्तिं कृन्तति मूषिकोऽपि रजनौ भिक्षान्नमाभक्षयन् ,
दुःखेनेति दिगम्बरः स्मरहरो हालाहलं पीतवान् ॥ ६ ॥

हे भगवन शंकर ! आप भस्म, सर्प और हड्डियों (मुंडों) का धारण करने वाले हैं, आपको श्मशान में रहना ही अच्छा लगता है, आपने अमृत को छोड़कर तीनों लोकों को विनाश करने वाले जहर को पी लिया । प्रायः देवताओं, राक्षसों और मनुष्यों ने जिन-जिन को छोड़ दिया आपने उन्हें अपना प्रिय बनाया । हे देव ! मुझे भी सबों ने छोड़ दिया है अतः हे प्रभु ! आपको तो मुझे नहीं छोड़ना चाहिए ॥ ४ ॥

विषम नेत्रों वाली और सर्वदा लड़ाई करने वाली काली पत्नी हैं, एक पुत्र हाथी जैसा मुख वाला और दूसरा छः मुख वाला है, सेवक बंदर के समान मुख वाला है और सवारी बूढ़ा बैल है । इस प्रकार अपने परिवार का स्मरण करते करते भगवान विश्वनाथ मिट्टी के बन गए ॥ ५ ॥

शंकरजी का वाहन बैल प्रतिदिन पार्वतीजी के वाहन सिंह को देखकर भयभीत होकर भागता है, आभूषण रूप से धारण किया गया सर्प पास में चरने वाले मयूर को देखकर भाग खड़ा होता है, रात में भिक्षा के अन्न को चूहा खा डालता और बाघम्बर को काट डालता है । इसी दुःख से कामदेव के जलाने वाले भगवान शंकर ने जहर पी लिया ॥ ६ ॥

उज्झित्वा दिशमम्बरं वरतरं वासो वसानश्चिरं,
हित्वा वासरसं पुनः पितृवने कैलासहर्म्याश्रमः।
त्यक्त्वा भस्मकृताङ्गरागनिचयः श्रीखण्डसारद्रवै-
र्देवेशोऽपि हिमाद्रिजा-परिणयं कृत्वा गृहस्थः शिवः ॥ ७॥

सीमन्तिनी यस्य गृहेऽन्नपूर्णा,
त्रिलोकरक्षां कुरुतेऽन्नदानैः
भिक्षाचरः सोऽपि कपालपाणि-
र्ललाट-लेखो न पुनः प्रयाति ॥ ८ ॥

अत्तुं वाञ्छति वाहनं गणपतेराखुं क्षुधार्त्तः फणी,
तं च क्रौञ्चपतेः शिखी, गिरिसुतासिंहोऽपि नागाशनम्।
गौरी जह्नुसुतां हिनस्ति च कलानाथं कपालानलो,
निर्विण्णः स शिवः कुटुम्बकलहाद् मूर्तिं दधौ मृन्मयीम् ॥६॥

सहस्रास्यो नागः स्वयमपि भवान् पञ्चवदनः,
षडास्यो हन्तैकस्तनय इतरो वारणमुखः।

देवताओं के स्वामी शंकरजी पार्वतीजी से विवाह करके गृहस्थ बन गए हैं इसीलिए उन्होंने दिशाओं का वस्त्र छोड़कर (नंगा रहना छोड़कर) श्रेष्ठ वस्त्रों को पहन लिया है, श्मशान भूमि में रहना छोड़कर श्वसुर के महल में रहना प्रारम्भ कर दिया है और शरीर में भस्म लगाना छोड़कर चन्दन आदि पदार्थों से अपने शरीर को सजा लिया है ॥ ७ ॥

सारे संसार को अन्नदान से पालन करनेवाली अन्नपूर्णा जिस शंकर की पत्नी हैं वही हाथ में खोपड़ी का पात्र लेकर भीख माँगते हैं। सचमुच भाग्य का लिखा हुआ कभी मिट नहीं सकता ॥ ८ ॥

भूखा सर्प गणेशजी के वाहन चूहे को खा जाना चाहता है, उस सांप को कार्तिकेय का वाहन मोर खाना चाहता है, इधर पार्वती का वाहन सिंह हाथी का मुंह धारण करने वाले गणेशजी को ही खाने की ताक में लगा है, पार्वती गंगा को ही मारना चाहती हैं और ललाट में स्थित तीसरे नेत्र की ज्वला मस्तक में स्थित चन्द्रकला को ही जलाना छाहती है। इस प्रकार अपने परिवार के कलह को देखकर शंकर जी ने खिन्न होकर मिट्टी की मूर्ति धारण कर ली है।६।

आपके शरीर पर रहने वाले सर्प के हजार मुख हैं, आप स्वयम् पाँच मुख वाले हैं, एक लड़का छः मुख वाला और दूसरा हाथी के मुख वाला है। भला

चिरं भिक्षावृत्तिर्भवति च कथं वर्तनमिति,
ब्रुवत्यां पार्वत्यां समभवदुमेशो विवसनः ॥ १० ॥
किं गोत्रं किमु जीवनं किमु धनं का जन्मभूः किं वयः,
का विद्या किमु सद्म के सहचराः के वंशजाः प्राक्तनाः ।
का माता च पिता तवेति गुरुणा पृष्टो विवाहे शिवो,
मालिन्येन हृदः स्वकीय-भवनं त्यक्त्वा श्मशाने स्थितः ॥ ११ ॥

(२) लक्ष्मी

लक्ष्मि ! क्षमस्व वचनीयमिदं मयोक्त-
मन्धीभवन्ति पुरुषास्त्वदुपासनेन ।
नो चेत् कथं कमलपत्रविशालनेत्रो,
नारायणः स्वपिति पन्नगभोगतल्पे ॥ १२ ॥
मन्ये लक्ष्मि ! त्वया सार्द्धं समुद्राद् धूलिरुत्थिता ।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति श्रीमन्तो धूलिलोचनाः ॥ १३ ॥

बताइए तो सही इस भीख मांगने से परिवार का पोषण कैसे हो सकेगा ? पार्वती जी के इस प्रकार पूछने पर शंकरजी नंगे हो गये ॥ १० ॥

शंकरजी के विवाह के समय गुरु ने पूछा—आपका गोत्र क्या है ? आपकी जीविका क्या है ? आपके पास धन क्या है ? आपकी जन्मभूमि कहां है ? आपकी अवस्था क्या है ? आपने क्या पढ़ा है । आपका घर कहाँ है ? आपके सेवक कौन हैं ? आपके प्राचीन वंश वाले कौन हैं ? और आपके माता-पिता कौन हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर न दे सकने के कारण दुखी होकर शंकरजी अपने घर को छोड़कर श्मशान में रहने लगे ॥ ११ ॥

लक्ष्मी

हे देवी लक्ष्मी ! आप हमारी इस निन्दा को क्षमा करें । पता नहीं क्यों पुरुष तुम्हारी उपासना करने से अन्धे हो जाते हैं ? यदि ऐसी बात न होती तो कमल की पंखुड़ियों के समान बड़ी-बड़ी आंखों वाले भगवान् नारायण सांप की कुण्डली की शैया पर क्यों सोते ? ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मी, मैं ऐसा अनुमान करता हूँ कि आपके साथ ही समुद्र से धूल भी निकली इसीलिए श्रीमान लोगों की आंखों में धूल भर जाती है और वे देखते हुए भी नहीं देखते ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मि ! क्षणिके स्वभावचपले मूढे च पापेऽधमे,
न त्वं चोत्तमपात्रमिच्छसि खले प्रायेण दुश्चारिणी ।
ये देवार्चन-सत्य-शौच-निरता ये चापि धर्मे रताः,
तेभ्यः कुप्यसि निर्दये गतमतिर्नीचोऽपि ते बल्लभः ॥ १४ ॥
नाहं दुश्चरिता न चापि चपला क्षुद्रो न मे रोचते,
नो शूरो न च पण्डितो न च शठो हीनाक्षरो नैव च ।
पूर्वस्मिन् कृतपुण्ययोगविभवः प्राप्नोति मे सत्फलम्,
लोकानामसहिष्णुता सखि कथं दृष्ट्वा तदीयं सुखम् ॥ १५ ॥
पीतोऽगस्त्येन तातश्चरणतलहतो वल्लभोऽन्येन रोषाद्,
आबाल्याद् विप्रवर्गैः स्ववदनविवरे धारिता मे सपत्नी ।
गेहं मे छेदयन्ति प्रतिदिवसमुमाकान्तपूजानिमित्तं,
तस्मात् खिन्ना सदाऽहं द्विजगणसदनं नाथ! नित्यं त्यजामि ॥१६॥
नाथे कृतपदघातश्चुलुकिततातः सपत्निका-सेवी ।

हे लक्ष्मी, तुम अत्यन्त चञ्चल हो, क्षणमात्र रहने वाली हो, मूर्ख और नीच हो, तभी तो तुम्हें दुष्ट ही अच्छे लगते हैं । तुम भी उत्तम व्यक्तियों को नहीं चाहती । जो देवताओं की पूजा करते हैं, सत्य, शौच आदि नियमों का पालन करते हैं उनके प्रति तो तुम क्रुद्ध हो जाती हो किन्तु हे निर्दये ! जो दुष्ट बुद्धि वाले और नीच होते हैं उन्हें तुम अपना प्रियपात्र बनाती हो ॥ १४ ॥

लक्ष्मी दरिद्रता से कहती है—मैं दुराचारणी और चञ्चल नहीं हूँ, और न मुझे नीच ही अच्छे लगते हैं। मैं वीर, पण्डित, धूर्त और मूर्ख किसी को नहीं चाहती । अपने पूर्व जन्म के पुण्यों के प्रभाब से ही अच्छे फल के रूप में लोग मुझे प्राप्त करते हैं। हे सखि ! उनके (पुण्य-प्रभाव से लक्ष्मीवानों के) सुख को देख कर पता नहीं क्यों लोग ईर्ष्या करते हैं ! ॥ १५ ॥

अगस्त्य मुनि ने मेरे पिता समुद्र को ही पी डाला । भृगु ने मेरे स्वामी विष्णु की छाती में क्रोध से पैरों का प्रहार किया, और अन्य ब्राह्मण प्रतिदिन शंकरजी की पूजा करने के लिए मेरे घर कमल को ही तोड़ डालते हैं, इसलिए हे नाथ मैंने दुखी होकर इसे सहन न कर सकने के कारण ब्राह्मण के घर में रहना ही छोड़ दिया है ॥ १६ ॥

एक ब्राह्मण ने लक्ष्मी के स्वामी विष्णु की छाती में लात मार दिया, एक ने

इति दोषादिव रोषाद् माधवयोषा द्विजं त्यजति ॥ १० ॥
आघातो भृगुणा कृतो निजपतेः पादेन विष्णोरुर-
स्यम्भोधिं किल कुम्भ-सम्भव-मुनिस्तातं निजं पीतवान् ।
उच्छिन्दन्ति निजं प्रियं शतदलं वासस्थलं ब्राह्मणाः
इत्थं दुर्नयतो भवत्यकरुणा पद्मालया तान्प्रति ॥ १८ ॥
मूर्खाय द्रविणं ददासि कमले विद्वत्सु किं मत्सरो,
नाहं मत्सरिणी बुधेषु न च मे मूर्खे रतिर्विद्यते ।
मूर्खेभ्यो द्रविणं ददामि यदहो तत्कारणं श्रूयतां,
विद्वान् सर्वगुणैर्विभूषिततनुर्मूर्खस्य नान्या गतिः ॥ १९ ॥

(३) कुभृत्यः

आहारे वडवानलश्च शयने यः कुम्भकर्णायते,
सन्देशे बधिरः पलायनविधौ सिंहः शृगालो रणे ।

उनके पिता समुद्र को ही पी लिया, और अन्य ब्राह्मण उसकी सौत सरस्वती की सेवा करने वाले हैं । इसी दोष के कारण क्रुद्ध होकर लक्ष्मी ने ब्राह्मणों को छोड़ दिया है ॥ १७ ॥

भृगु ने लक्ष्मी के पति विष्णु की छाती में पैरों का आघात किया, अगस्त्य मुनि ने उनके पिता समुद्रको ही पी लिया, तथा अन्य ब्राह्मण उनके प्रिय निवास स्थान कमल को तोड़ते हैं इस प्रकार ब्राह्मणों ने लक्ष्मी के साथ सर्वदा कठोर व्यवहार किया है इसलिए लक्ष्मी भी उनके प्रति दयाहीन होती हैं ॥१८॥

हे लक्ष्मी, तुम मूर्खों को तो धन देती हो किन्तु विद्वानों में ईर्ष्या करके उन्हें नहीं देती हो ? ऐसा प्रश्न सुनकर लक्ष्मी ने कहा—मैं मूर्खों से प्रेम नहीं करती न विद्वानों से द्वेष ही रखती हूं । मैं मूर्खों को जो धन देती हूं उसका कारण भी तो सुनो ! विद्वान तो सभी गुणरूपी रत्नों से भरा होता है किन्तु बेचारे मूर्ख का तो मेरे सिवाय और कोई सहारा ही नहीं होता ॥ १९ ॥

भोजन करने में वडवाग्नि के समान, सोने में कुम्भकर्ण के समान, सुनने में बहिरा, भागने में सिंह (बहादुर), युद्ध में गीदड़ (आकर), किसी वस्तु को

अन्धो वस्तुनिरीक्षणेऽथ गमने खञ्जः पटुः क्रन्दने,
भाग्येनैव हि लभ्यते प्रभुजनैरेवंविधः सेवकः ॥ २० ॥
आह्वानेषु गृहीतमौन-नियमः स्तेयव्रते दीक्षितः,
पंगुः पर्यटने निरन्तरमृषाजल्पेषु पञ्चाननः ।
निद्रायां खलु कुम्भकर्णविजयी हस्ती तथा भोजने,
कौलः शौचविधावयं, सुकृतिनां भाग्येन भृत्यो भवेत् ॥ २१ ॥

(४) हास्यम्

साधु साधु रघुनाथ ! यत्त्वया, पर्यणायि जनकस्य कन्यका ।
कार्यमेतदपरेण दुष्करं, युक्तमेतदजवंशजन्मनः ॥ २२ ॥
कमले कमला शेते हरः शेते हिमालये ।
क्षीराब्धौ च हरिः शेते मन्ये मत्कुण-शङ्कया ॥ २३ ॥
असारे खलु संसारे सारं श्वशुर-मन्दिरम् ।
हरो हिमालये शेते हरिः शेते महोदधौ ॥ २४ ॥

देखने में अन्धा, जाने में लंगड़ा और रोने में चतुर—ऐसा सेवक स्वामी को बड़े भाग्य से मिलता है ॥ २० ॥

बुलाने पर मौन धारण कर लेने वाला, चोरी का व्रत लेने वाला, चलने में पंगु, निरन्तर झूठ बोलने में पांच मुख वाला, नींद में कुम्भकर्ण को जीतने वाला, भोजन करने में हाथी के समान तथा व्यवहार में वाममार्गी—ऐसा नौकर पुण्यात्माओं को बड़े भाग्य से मिलता है ॥ २१ ॥

हास्य रस

हे रामचन्द्र ! आप धन्य हैं। आपने जनक (पिता या राजा जनक) की कन्या (बहिन या जानकी) का जो पाणिग्रहण किया है वह दूसरों के लिए अत्यन्त कठिन है क्योंकि यह कार्य आप जैसे अजवंशीय (अज नामके राजा के वंशज या बकरे के वंशज) लोगों के लिए ही उचित है ॥ २२ ॥

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि खटमल की आशंका से ही लक्ष्मी कमल में, शंकर हिमालय पर और विष्णु भगवान् क्षीर-सागर में सोते हैं ॥ २३ ॥

इस निस्तत्त्व संसार में ससुराल ही एक तत्त्व की वस्तु होती है इसीलिए भगवान शंकर हिमालय पर और भगवान विष्णु क्षीरसागर में सोते हैं ॥२४॥

सदा वक्रः सदा क्रूरः सदा पूजामपेक्षते ।
कन्याराशिस्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः ॥ २५ ॥
वाचयति नान्य-लिखितं लिखितमनेनापि वाचयति नान्यः ।
अयमपरोऽस्य विशेषः स्वयमपि लिखितं स्वयं न वाचयति ॥ २६ ॥
शिक्षिताऽपि सखिभिर्ननु सीता रामचन्द्रचरणौ न ननाम ।
किं भविष्यति मुनीशवधूवद् भालरत्नमिह तद्रचसेति ॥ २७ ॥
उत्फुल्लेन्दीवराक्षी शशधरवदना बिभ्रती शुभ्रकान्तिं,
गत्वाऽसौ राजधानीं दशरथमवदत् कैकयी कोपयुक्ता ।
राजा रामाभिषेकाद्विरमतु सहसा निष्कलङ्के कुलेऽस्मिन् ।
भूपुत्री यस्य पत्नी स च भवति कथं भूपती रामचन्द्रः ॥ २८ ॥
चतुरः सखि मे भर्ता, यल्लिखति तत्परो न वाचयति ।
तस्मादप्यधिको मे स्वयमपि लिखितं स्वयं न वाचयति ॥ २९ ॥

—:o:—

कन्या राशि में स्थित रहने वाला जामाता दसवां ग्रह होता है, वह सर्वदा टेढ़ा और क्रूर रहता है सर्वदा ही पूजा (धन) चाहता ही रहता है ॥ २५ ॥

यह दूसरे का लिखा हुआ नहीं पढ़ सकता और दूसरे इसके लिखे हुए को नहीं पढ़ सकते। किन्तु इसकी एक दूसरी विशेषता यह भी है कि यह अपने लिखे हुए को भी स्वयम् नहीं पढ़ पाता है (अर्थात् मूर्ख है) ॥ २६ ॥

सखियों द्वारा सिखलाने पर भी जानकी जी ने राम के चरणों पर सिर रखकर प्रणाम नहीं किया क्योंकि इन्होंने सोचा कि उस चरण की धूलिसे मुनि-पत्नी (अहिल्या) के समान भाल में लगे इस रत्न की क्या दशा होगी। (अर्थात् एक सौत पैदा हो जायगी) ॥ २७ ॥

फूले हुए कमल के समान नेत्र वाली, चन्द्रमुखी, गौर वर्ण वाली तथा क्रोध-पूर्ण कैकेयी ने राजधानी में जाकर दशरथ से कहा कि हे राजा आप राम का अभिषेक करना बन्द कर दें क्योंकि इस पवित्र कुल में रामचन्द्रजी उस पृथ्वी (सासु) के पति कैसे बन सकते हैं जब कि उन्होंने पृथ्वी की पुत्री (जानकी) से विवाह किया है ॥ २८ ॥

हे सखी, मेरे स्वामी इतने चतुर हैं कि वह जो लिख देते हैं उसे कोई भी नहीं पढ़ पाता उससे भी अधिक चतराई यह है कि वह स्वयम् लिखते हैं किन्तु स्वयम् नहीं पढ़ पाते हैं (अत्यन्त मूर्ख हैं) ॥ २९ ॥

—:o:—

सुभाषितानि

भाषासु दिव्या मधुरा मुख्या गीर्वाण-भारती।
तस्यां हि काव्यं मधुरं तत्र चाति सुभाषितम्॥ १॥
पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्न-संज्ञा विधीयते॥ २॥
द्राक्षा म्लान-मुखी जाता शर्करा चाश्मतां गता।
सुभाषितरसस्याग्रे सुधा भीता दिवङ्गता॥ ३॥
अपूर्वः कोऽपि कोषोऽयं विद्यते तव भारति!।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात्॥ ४॥
सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।
आहार्यत्वादनर्घ्यत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा॥ ५॥
कान् पृच्छामः सुराः स्वर्गे निवसामो वयं भुवि।
किंवा काव्यरसः स्वादुः किंवा स्वादीयसी सुधा॥ ६॥

सुभाषित

भाषाओं में दिव्य, देवताओं की वाणी अत्यन्त मधुर संस्कृत मुख्य है, उसमें भी काव्य श्रेष्ठ है और काव्यों में भी सुभाषित सबसे मधुर है॥ १॥

इस पृथ्वी पर जल, अन्न और सुभाषित सचमुच तीन ही रत्न हैं। जो पत्थरों को 'रत्न' नाम से पुकारते हैं वह तो मूर्ख होते हैं॥ २॥

इस सुभाषित रस की मधुरता से द्राक्षा (अंगूर) मलिन मुख वाली और शक्कर रेत बन गई तथा अमृत डर कर स्वर्ग को चला गया॥ ३॥

हे सरस्वती, आपका यह खजाना तो बड़ा ही विचित्र है। यह तो खर्च करने से बढ़ता है और खर्च न करने से घट जाता है॥ ४॥

विद्यारूपी धन तो न चुराया जा सकता है, न तो उसका मूल्य आंका जा सकता है, न तो वह कभी नष्ट ही हो सकता है, इसलिए संपूर्ण धनों में विद्या ही सर्वश्रेष्ठ धन कहा जाता है॥ ५॥

काव्यरस अधिक स्वादिष्ट होता है या अमृत मीठा होता है? यह बात भला हम पूछें तो किससे पूछे? क्योंकि हम तो पृथ्वी पर रहते हैं और (अमृत का ज्ञान रखने वाले) देवता स्वर्ग में रहते हैं॥ ६॥

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ।। ७ ।।

साहित्य-संगीत-कला-विहीनः,
साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः ।
तृणं न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ।। ८ ।।

सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य जगत् समग्रं
त्रयः पदार्थाः हृदयं प्रविष्टाः ।
इक्षोर्विकारः कृतयः कवीनां
सद्बालकानां चरितानि नूनम् ।। ९ ।।

अपूर्व तव भाण्डारं मातर्भारति दृश्यते ।
अव्यये व्ययमाप्नोति व्यये चाव्ययतामियात् ।। १० ।।

शिशुर्वेत्ति पशुर्वेत्ति वेत्ति गानरसं फणी ।
साहित्य-रस-माधुर्यं शङ्करो वेत्ति वा न वा ।। ११ ।।

यस्य वक्त्रकुहरे सुभाषितं नास्ति नाप्यवसरे प्रजल्पति ।
आगतः सदसि धीमतामसौ लेप्यनिर्मित इवावभासते ।। १२ ।।

वे सभी रसों की सफल रचना करने वाले कविगण सर्वदा जीवित रहें, जिनके यशरूपी शरीर में बुढ़ापे और मौत का डर नहीं होता ।। ७ ।।

साहित्य, संगीत और कला से रहित मनुष्य सींग-पूँछ से रहित पशु के समान होता है । वह घास न खाकर जीवित रहता है यही पशुओं का सबसे बड़ा सौभाग्य है क्योंकि यदि वह घास खाता तो पशुओं का भोजन भी ले लेता ।।८।।

सारे संसार की छान-बीन कर डालने पर, शक्कर, कवियों की कृति और बालकों के अच्छे बाल-चरित्र ये ही तीन पदार्थ मन में अपना घर बना पाते हैं ।।९

हे माँ सरस्वती, आपका भंडार बड़ा ही विलक्षण दिखाई पड़ता है उसे यदि खर्च न किया जाय तो नष्ट हो जाता है और यदि खर्च किया जाय तो स्थिर हो जाता है ।। १० ।।

संगीत के रस को बालक, पशु और सर्प जानते हैं किन्तु साहित्य-रस के माधुर्य को शंकर जी भी जानते हैं या नहीं ।। ११ ।।

जिसके मुख में सुभाषित नहीं होता और अवसर पड़ने पर बोल नहीं

याता यान्ति च यातारो लोकाः शोकाधिका भुवि।
काव्यसम्बन्धिनी कीर्तिः स्थायिनी निरपायिनी ॥ १३ ॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु वैलक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ १४ ॥

—:०:—

सकता, वह बुद्धिमानों की सभा में मिट्टी के पुतले के समान प्रतीत होता है ॥१२॥

इस पृथ्वी पर शोक की अधिकता के कारण सभी लोग चले जा रहें हैं और चले जाने वाले हैं किन्तु काव्य-संबंधी कीर्ति शोकरहित और सर्वदा स्थिर रहने वाली है ॥ १३ ॥

अच्छे काव्यों का अध्ययन करने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में विलक्षण ज्ञान तथा कीर्ति और प्रीति होती है ॥ १४ ॥

—:०:—

कूटानि

केशवं पतितं दृष्ट्वा द्रोणो हर्षमुपागतः ।
रुदन्ति कौरवाः सर्वे हा केशव कथं गतः ॥ १ ॥
पानीयं पातुमिच्छामि त्वत्तः कमल-लोचने ।
यदि दास्यसि नेच्छामि नो दास्यसि पिबाम्यहम् ॥ २ ॥
विराजराजपुत्रारेर्यन्नाम चतुरक्षरम् ।
पूर्वार्धं तव शत्रूणां परार्धं तव सङ्गरे ॥ ३ ॥ (मृत्युञ्जयः)
एको-ना विंशतिः स्त्रीणां स्नानार्थं सरयूं गताः ।
विंशतिः पुनरायाता एको व्याघ्रेण भक्षितः ॥ ४ ॥ (एकः ना)
अहं च त्वं च राजेन्द्र ! लोकनाथावुभावपि ।
बहुव्रीहिरहं राजन् ! षष्ठीतत्पुरुषो भवान् ॥ ५ ॥

कूट

केशव को गिरा हुआ देखकर द्रोण, अत्यन्त प्रसन्न हुआ और कौरव रोने लगे कि हे केशव क्या तुम मर गए ? (कूटार्थ—मुर्दे को पानी में गिरा हुआ देखकर कौवा प्रसन्न हुआ किंतु गीदड़ रोने लगे कि हा ! जल में मुर्दा कैसे चला गया) ॥

हे कमल के समान नेत्र वाली ! मैं तुमसे पानी पीना चाहता हूं यदि तुम दोगी तो नहीं पिऊँगा और अगर नहीं दोगी तो पी लूँगा । (कूटार्थ—हे कमल के समान नेत्र वाली, मैं तुमसे पानी पीना चाहता हूं किन्तु यदि तुम दासी हो तो नहीं पीऊँगा और यदि दासी नहीं हो तो पी लूंगा ॥ २ ॥

हे राजन् विराज, राज के पुत्र के शत्रु के नाम में जो चार अक्षर हैं, युद्ध भूमि में पूर्वार्द्ध तो आपके शत्रुओं को मिले और परार्द्ध आप को । (कूटार्थ—हे राजन् 'मृत्युञ्जय' नाम में चार अक्षर हैं, उनमें से पहले दो अर्थात् 'मृत्यु' तो आपके शत्रुओं को मिले और 'जय' आपको) ॥ ३ ॥

उन्नीस स्त्रियां स्नान करने के लिए सरयू नदी में गईं बीस तो लौट आईं और एक को बाघ ने खा लिया । (कूटार्थ—एक पुरुष और बीस स्त्रियाँ स्नान करने के लिए सरयू नदी में गईं किन्तु एक पुरुष को बाघ ने खा डाला और बीसों स्त्रियाँ फिर लौट आईं) ॥ ४ ॥

'हे राजन्, हम और आप दोनों 'लोकनाथ' हैं किन्तु हम बहुव्रीहि हैं और आप षष्ठी तत्पुरुष । (कट अर्थ में 'लोकनाथ' शब्द का बहुव्रीहि समास करने

कान्ते ! धावय मे पादाविति भर्त्रा निवेदिता ।
न-तया धावितौ पादौ भर्तुराज्ञा न लङ्घिता ॥ ६ ॥ (नतया)
तातेन कथितं पुत्र ! लिख लेखं ममाज्ञया ।
न तेन लिखितो लेखः पितुराज्ञा न लोपिता ॥ ७ ॥
द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः ।
तत्पुरुष—कर्म धारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः ॥ ८ ॥
लम्बोदर ! तव चरणावादरतो यो न पूजयति ।
स भवति विश्वामित्रो दुर्वासा गोतमश्चेति ॥ ९ ॥

क्रियागुप्तम्

प्रातः प्रातः समुत्थाय द्वौ मुनी स्वकमण्डलू ।
अत्र क्रियापदं वक्तुमवधिर्ब्रह्मणो वयः ॥ १० ॥

पर (लोकः एव नाथो यस्य सः) सबका दास और षष्ठी तत्पुरुष करने पर (लोकस्य नाथः) राजा अर्थ होगा ॥ ५ ॥

पति ने कहा कि हे प्रिये, मेरे पैरों को धो दो लेकिन उसने पैरों को धोया भी नहीं और पतिकी आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं किया । [कूट अर्थ में–'उसने विनम्रता के साथ पैर धो दिया इस प्रकार पति की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया ॥ ६ ॥

पिता ने कहा हे पुत्र ! मेरी आज्ञा से लेख लिखो । पुत्र ने लेख नहीं लिखा और पिता की आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं किया । [कुट अर्थ में—विनम्रतों के साथ लेख लिख दिया और पिता की आज्ञा पूरी कर दी ।] ॥ ७ ॥

द्वन्द्व, द्विगु, अव्ययीभाव, तत्पुरुष और कर्मधारय तथा बहुव्रीहि समास के नाम हैं किन्तु कूट में इसका अर्थ इस प्रकार होगा—मैं द्वन्द्व [स्त्री पुरुष का जोड़ा] और द्विगु [दो गायों वाला] हूं । किन्तु मेरे घर अव्ययीभाव है [धन का अभाव है] तत्पुरुष [इसलिए हे पुरुष] कर्म धारय (कर्म धारण कर) येन [जिससे] हम बहुव्रीहि (बहुत धान वाले) हों ॥ ८ ॥

हे गणेश ! जो व्यक्ति आदरपूर्वक तुम्हारे चरण की पूजा नहीं करता वह विश्वामित्र, दुर्वासा और गौतम बन जाता है । कूटार्थ में—वह संसार का शत्रु, बुरे वस्त्रों वाला और पशु बन जाता है ॥ ९ ॥

क्रियागुप्त

प्रातःकाल-उठकर दो मुनियों ने अपना-अपना कमण्डलु [जल से पूर्ण

पम्पासरसि रामेण सस्नेहं सविलासया ।
सीतया किं कृतं सार्धमत्रैवोत्तरमीद्यताम् ।। ११ ।।
अम्लान-पङ्कजा माला कण्ठे रामस्य सीतया ।
मुधा बुधा भ्रमन्त्यत्र प्रत्यक्षेपि क्रियापदे ।। १२ ।।
सन्ध्यावन्दनवेलायां तडागास्ते द्विजोत्तमैः ।
अत्र क्रियापदं गुप्तं यो जानाति स पण्डितः ।। १३ ।।

अन्तरालापाः

कस्तूरी जायते कस्मात् को हन्ति करिणां कुलम् ।
किं कुर्यात् कातरो युद्धे मृगात् सिंहः पलायनम् ।। १४ ।।
कः खे चरति, का रम्या, का जप्या किं विभूषणम् ।
को वन्द्यः कीदृशी लङ्का वीरमर्क्कट-कम्पिता ।। १५ ।।

किया) । इसके क्रिया पद को बतलाने के लिए ब्रह्मा की अवस्था (अर्थात् १ कल्प) जितनी लम्बी अवधि है ।। १० ।।

(इस पद में क्रिया प्रातः है)

पंपा तालाब में रामचन्द्रजी ने प्रेमपूर्वक विलासयुक्त सीता के साथ क्या किया ? इसका उत्तर इसी श्लोक में ढूढ़िये । (इसका उत्तर होगा 'सस्ने हंस-विलासया' अर्थात्—हंस के समान विलासवाली सीता के साथ स्नान किया)।।११

फूली हुई कमल की माला सीता द्वारा राम के गले में (डाली गयी) यहाँ पर क्रिया पद प्रत्यक्ष रहते हुए भी बुद्धिमान व्यर्थ भ्रम में पड़ते हैं (इस श्लोक में क्रिया 'प्रत्यक्षेपि' है) ।। १२ ।।

सन्ध्या-वन्दन की वेला में तालाब के पास हे ब्राह्मण क्या तुम (गये) यहाँ क्रिया पद गुप्त है । इसे जो जानेगा वही पंडित है ।(इस पदमें क्रिया 'ऐः' है)।।१३

अन्तरालापाः

(ऐसे पद जिनका उत्तर इन्हीं के भीतर से निकाला जाय) । कस्तूरी किससे उत्पन्न होती है (मृगात् =हरिण से), हाथियों को कौन मारता है (सिंहः) युद्ध में कायर क्या करता है (पलायनम्) । इस प्रकार इस श्लोक के आखिरी चरण—'मृगात् सिंहः पलायनम्' से सभी उत्तर मिल गये हैं ।। १४ ।।

कौन आकाश में घूमता है (वी (विः) =पक्षी), कौन रमणीय होती है ! (रमा + लक्ष्मी) किसका जप किया जाता है ? (ऋक् = मन्त्र), आभूषण

सीमन्तिनीषु का शान्ता, राजा कोऽभूद्गुणोत्तमः ।
विद्वद्भिः का सदा वन्द्या अत्रैवोक्तं न बुध्यते ॥ १६ ॥
युधिष्ठिरः कस्य पुत्रो गङ्गा वहति कीदृशी ।
हंसस्य शोभा का वास्ति, धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥ १७ ॥
कं-संवधान कृष्णः का-शीतलवाहिनी गङ्गा ।
के दारपोषणरताः कं बलवन्तं न बाधते शीतम् ॥ १८ ॥

बहिरालापाः

किमिच्छति नरः काश्यां भूपानां को रणे हितः ।
को वन्द्यः सर्व देवानां दीयतामेकमुत्तरम् ॥ १९ ॥ (मृत्युञ्जयः)

क्या है ? (कटकम्) वन्दना करने योग्य कौन है ? (पिता) और लंका कैसी है ? (वीरमर्क्कटकम्पिता = वीर बन्दरों से कंपाई हुई) ॥ १५ ॥

स्त्रियों में कौन शान्त है ? (सीता), सबसे गुणी राजा कौन हुआ ? (रामः), विद्वानों से सर्वदा कौन वन्दनीय होती है ? (विद्या) इसका उत्तर इसी में है लेकिन पता नहीं चलता (क्रम से प्रथम, द्वितीय व तृतीय चरण के आदि तथा अन्त के अक्षरों के लेने पर उत्तर निकलता है) ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर किसके पुत्र हैं (धर्मस्य), गंगा किस प्रकार बहती है (त्वरिता = शीघ्रता से), और हंस की शोभा, क्या होती है ? (गतिः = चाल) ॥ १७ ॥

कृष्ण ने किसको मारा ? (कंसम् = कंस को), शीतलता प्रदान करने वाली गंगा कौन है ? (काशी की), स्त्रियों के पालन करने वाले कौन होते हैं ? (केदारपोषणरताः = किसान), किस बलवान् को शीत नहीं बाधा पहुंचाते ? (कम्बलवन्तम् = कम्बल धारण करने वाले को) (१८)

बहिरालापाः

(जिस पद के प्रश्नों के उत्तर कुछ निश्चित बाहरी शब्दों से निकाले जाते हैं । उन्हें बहिरालाप कहते हैं ।)

मनुष्य काशी में क्या चाहता है ? (मृत्युम् = मृत्यु को) राजाओं को युद्ध में क्या प्रिय होता है (जयः = जय) देवताओं के लिए वन्दनीय कौन है ? (मृत्युञ्जयः = शंकरजी) । इन प्रश्नों का एक शब्द में उत्तर दीजिए ॥ १९ ॥

को नयति जगदशेषं क्षयमथ विभराम्बभूव कं विष्णुः ।
नीचः कुत्र सगर्वः पाणिनि-सूत्रं च कीदृशम् ॥ २० ॥

(यमोऽगन्धने)

प्राप्ते वसन्त-समये वद किं तरूणां,
किं धीयते विरहिणामुरगः क्वमेति ।
किं कुर्वते मधुकरा मधुपानमत्ताः,
कीदृग् वनं मृगगणास्त्वरितं त्यजन्ति ॥ २१ ॥

(दवविकलम्)

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

—:०:—

सारे संसार का नाश कौन करता है ? [यमः=यम] विष्णु ने किसको धारण किया ? [अगम=पर्वत को] नीच किस वस्तु में अभिमान करते हैं ? [धने=धन में] पाणिनि का सूत्र कैसा है ? [यमोऽगन्धने] ॥ २० ॥

वसन्त का समय आने पर वृक्षों का क्या नष्ट होता है ? [दलम्=पत्ता] विरहियों का क्या नष्ट होता है ? [बलम्=बल] सर्प कहाँ जाता है ? (बिलम्=बिल में] मधु पीकर मतवाले भौंरे क्या करते हैं ? [कलम्=गुञ्जार] किस प्रकार के जंगल को मृग छोड़ देते हैं ? [दवविकलम्=दावाग्नि से जले हुए को] ।

—:०:—

परिशिष्ट

शब्दकोश

गद्यभागः

ईश-स्तुतिः (पृ० १)

विश्वानि—संपूर्ण ।
सवितद् [सविता]—सूर्य
दुरितानि—पापों को ।
परासुव - दूर करो ।
आसुव—प्रदान करो ।
अक्षिभिः—नेत्रों द्वारा ।
यजत्राः—यज्ञ करते हुए ।
तुष्टवाँसः—प्रसन्न रहें
व्यशेमहि—प्राप्त करें ।
देवहितम्—देवताओं के योग्य अर्थात् देवताओं की ।
संजानानाः—जानने वाले ।
आकूतिः—संकल्प, कामना ।
पाथेयम् —राहखर्च साधन ।
भूतये—ऐश्वर्य के लिये ।
धाम—तेज, पुण्यस्थान ।
द्रविणम्—धन ।
गरीयान्—महान्, श्रेष्ठ

हरिश्चन्द्रोपाख्यान (पृ० ३)

वैधस—वेसध के पुत्र ।
ऊषतुः—रहते थे ।
विन्दते—प्राप्त करता है ।
मलम्—अपवित्र वस्तु, यहाँ गृहस्थाश्रम से तात्पर्य है ।
अजिनम्—मृगचर्म यहाँ ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है ।
श्मश्रूणि—दाढी-मूछ यहाँ वानप्रस्थ से तात्पर्य है ।
अवदः—अनिन्दनीय ।
हिरण्यम्—सोना ।
कृपणम्—दीनता ।
उरुगायः [उरुभिः गीयते इति उरुगायः] —महापुरुषों से प्रशंनीय ।
निर्दशः[निर्गतदशदिनः]—दश दिन का ।
मेध्य—पवित्र,यज्ञयोग्य ।
पेदिरे—गिर पड़े ।
सन्नाहुकः—धनुष, बाण, कवच आदि धारण जरने वाला ।
चचार—भ्रमण किया ।
अनाश्रान्ताय—परिश्रम रहित, कायर ।
निष्क्रीणा—मूल्य देकर छुटकारा पाना ।
निगृह्णानः— पकड़ते हुए ।
अध्वर्युः—कुश के साथ पकड़ी की शाखा से मंत्र द्वारा आचमन कर यज्ञ-पशु को स्वीकार करने वाला ।
उद्गाता—मंत्रोच्चारण करने वाला ।

विपाशः—बन्धन ।

अश्वमेधशब्दार्थः (पृ० ८)

आलभन्ते—प्रदानकरते हैं, बलि देते हैं ।
विवृते—स्थानान्तरित होने पर, खंड खंड होने पर ।
इष्टि—यज्ञ क्रिया ।
परिप्लमानः—आवृत्ति करता हुआ ।

अमृतत्वप्राप्तिः (पृ० १०)

स्त्रीप्रज्ञा—स्त्रियों जैसा बुद्धि वाली ।
वृत्तम्—आचरण, यहाँ आश्रम से तात्पर्य है।
अमृता—अमर, मृत्युहीन ।
उपकरणवताम्—धनधान्यादि वालों का।
अमृतत्वम्—अमरता ।
भूतानि—समस्त प्राणी ।
निदिध्यासितव्याः—चिन्तनीय ।
मते—मान लेने पर ।

नामाख्यातजत्वम् (पृ० १६)

नामानि—संज्ञाएँ ।
आख्यातजानि—धातुओं से उत्पन्न ।
सत्त्वः—प्राणी ।
अध्वानम्—मार्ग को ।
स्थूणा—खंभा ।
दरशया—गड्ढे में स्थित वस्तु ।
सञ्जनी—जिस पर छत टिकी रहती है ।
कार्मनामिकः—क्रियासे पड़ने वाले नाम ।

गुरुभक्तिः (पृ० १४)

केदारखण्डम्—टूटा हुआ मेड़ ।
उदकम्—जल ।
विदार्य—फाड़कर ।
पीवानम्—मोटा ताजा ।
वृत्युपरोधम्—जीविका में रुकावट ।
उद्गरन्ति—गिराते हैं ।
अर्कपत्राणि—मदार के पत्ते ।
अनृतम्—झूठ ।
अनूपः—मालपूआ ।

गंगावतरणम् (पृ० २१)

और्वः—एक मुनि ।
अपरा—दूसरी ।
अपवृत्तः—बुरे आचरण वाला ।
अतीतबाल्य—बचपन बीतने पर ।
अनुचक्रुः—अनुकरण किये ।
हयमेधम्—अश्वमेध ।
युयोज—नियुक्त किया ।
अपघने—बादल घट जाने पर ।
ईषत्—किंचित् थोड़ा सा ।
खात—खोदे गये ।
त्रिदिवात्—स्वर्ग से ।
अंभसा—जल द्वारा ।
अंपेतप्राणस्य—मरे हुए का ।

श्रीवासुदेवस्य दौत्यम् (पृ० २४)

गोपालकः—गाय चराने वाला, आभीर ।
सत्वरम्—शीघ्र ।
पुरतः—सामने से ।
स्वैरम्—स्वतन्त्रापूर्वक ।
अनामयम्—स्वास्थ्य ।
समयः—सन्धि, काल ।
दायाद्यम—पैतृक संपत्ति का भाग ।
पिष्टपेषणम्—पीसे हुएको पीसना अर्थात् व्यर्थ बात करना ।
पशुपतिम्—शंकरजी को ।
गाम्—पृथ्वी को ।
कामी—स्वार्थी ।
पामर—कायर ।

दारिद्र्य-दुःखम् (पृ० २८)

अनन्तकम्—चिरकालीन ।
प्रणयिजनेषु—प्रेमियों में ।
सङ्क्रमितविभवस्य–धन दे देनेवाले का ।
परिक्षयः—नाश, दरिद्रता ।
संशुष्कसान्द्रमदलेखम्–सूखे हुए मद के चिह्न वाले ।
कालात्यये—समय के बदल जाने पर ।
करिणः—हाथी के ।
गोपालदारकाः—अहीरों के बच्चे ।
ह्री—लज्जा ।
निर्विण्णः—उदासीन ।
पिहितः—युक्त ।
आस्पदम्—स्थान ।
चतुष्पथे—वह स्थान जहाँ चार रास्ते मिलते है ।

अंगुलीयकप्राप्तिः (पृ० ३२)

मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयम्–मणियों से जड़ी हुई तथा नामाङ्कित ।
प्रतिग्रहः—दान ।
अन्तरा—विघ्न ।
आवुत्त—साला ।
आजीवः—जीविका वृत्ति ।
श्रोत्रिय—कर्मकांडी ब्राह्मण ।
रोहितमत्स्यः—रोहू मछली ।
विस्रगन्धि—विसायंध गन्धवाला ।
रत्नभासुरम्—रत्न से चमकती हुई ।
अवसरोपसर्पणीया–समयानुसार मिलने वाले ।
शुनः (श्वा)—कुत्ते का ।
सुमनः–शराब का, महुए की शराब को फूल कहते हैं ।

पञ्चतन्त्रम् (पृ० ३७)

सकलार्थिकल्पद्रुमः—सभी वाचकों की अभिलाषा पूरी करने वाले ।
प्रवर—श्रेष्ठ ।
मरीचि—किरण ।
प्रतिबोधनम्—ज्ञान ।
जीवितव्यविषयः—जीवन ।
क्षीरम्—दूध ।
अम्बु—जल ।
द्राक्—शीघ्र ही ।
व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य–सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों से शिथिल हो जानेवाले को ।

वर्षा-समयवर्णनम् (पृ० ४७)

अपगमे—बीतने पर ।
काकलीगायन—मधुरगान ।
सायन्तन—संध्या ।
नीलकण्ठ—(१) शिव, (२) मोर ।
शरजन्मा— (१) सरकंडा, (२)स्वामी कर्तिकेय ।
रजःप्रसरः—(१) रजोगुण का प्रसार, (२) धूल का विस्तार ।
करकः—(१) कमण्डलु (२) ओला ।
तरणिः—(१) सूर्य, (२) नौका ।
सारङ्गः—(१) चातक, (२) मृग ।
हलधृतकरः–(१)हल को हाथमें धारण करनेवाले बलराम जी, (२) कृषक ।
नीलोत्पल—नीला कमल ।
स्मरस्य—कामदेव की ।
मातङ्गकन्या—चांडालकन्या ।
सौध—महल ।
तोरण—मुख्यद्वार ।
रसना—करधनी ।
शलाका—सलाई ।

यष्टिः—छड़ी ।
कुसुमकेतोः—कामदेव की ।
बलाकात्—बगुलों से ।
छलात्—बहाने ने ।
कृष्णकेदारिका—हरी-भरी क्यारी ।
कोष्ठिका—कोठा ।
जतुशबलैः—लाख से रंगे हुए ।
दर्दुर—मेढक ।
निचय—समूह, राशि ।
निभ—तुल्य ।
निकषोपले—कसौटी पर ।
निकषित—कसी हुई ।
तडित्—बिजली ।

शुकजन्मकथा (पृ० ४५)

कनकवेत्रतावलम्बिना—स्वर्ण जटित बेंत की छड़ी के सहारे ।
सित—उज्ज्वल ।
कञ्चुक—चोला, एक पहनावा ।
जराधवलितमौलिना—बुढ़ापे से सफेद । सिर (बाल) वाला ।
जरत्कलहंस—बुड्ढा हंस ।
अन्तिकम्—पास ।
आमत्तकोकिललोचनच्छविः—मतवाले कोकिल के नेत्रों के समान ।
नीलपाटल—श्याम तथा लाल ।
प्रकामम्—इच्छानुसार ।
दाडिम—अनार ।
नलिनी—कमलिनी ।
द्राक्षाफल—अंगूर ।
कात्स्न्र्येन—पूर्णता के साथ ।
वेलावलग्ना—किनारे से लगी हुई ।
मेखला—करधनी ।
निकरम्—समूह, राशि ।
मधुकोष—मधु का छत्ता ।
कीचक—बांस ।
करपुट—अंजलि ।
अपाम् (अप्) — जल का ।
परिणतवयाः — बुड्ढा ।
नीड—घोंसला ।
शालिवटी—धान की वाली ।
शकलानि — टुकड़ों को ।

अपुत्रस्य विषादः (पृ० ४८)

तूष्णीम् — चुपचाप ।
दैवायत्ते — भाग्याधीन ।
परिष्वङ्ग — आलिंगन ।
अवदात — पुण्य, पवित्र ।
अभियुक्त—समर्थ ।
परिचर्या—सेवा ।
चंडकौशिक—विश्वामित्र ।
अमोघफला—निश्चय फल देनेवाली ।
सिद्धायतनानि—सिद्धपीठों ।
प्रबुद्धः — जगकर ।
पुण्डरीक—श्वेतकमल ।
उत्सङ्गे—गोद में ।
अवितथफलाः—अवश्य ही फल देनेवाले ।
धौरेयम्—श्रेष्ठ ।

मातङ्ग-चरितम् (पृ० ५१)

हेति—शस्त्र ।
हति—घाव ।
किण—घट्टा ।
अंकम्—निशान, चिह्न ।
कालायस—काला लोहा ।
कान्तारे—जंगल प्रान्त में ।
अंसोपनीतम्—कंधे पर पड़ा हुआ ।

वयस्य—मित्र ।
अटव्याम्—जंगल में ।
पुलिन्द—एक जंगली जाति ।
ब्राह्मणब्रुवाः—ब्राह्मण कहे जानेवाले ।
जिघांस्यमानम्—माते हुए ।
भूसुरम्—ब्राह्मण को ।
अवनिसुर—ब्राह्मण ।
प्रेतपुरीम्—यमपुरी को ।
शमनम्—यमराज को ।
शरावे—कड़ाह में ।
निशित—तेज ।
टङ्कैः—छेनी द्वारा ।
महीसुर—ब्राह्मण ।
उदन्त—कथा, कहानी ।
व्रण—घाव ।
शशिखंडशेखर—शंकर जी ।

परोपकारः (पृ० ५५)

अश्नता—खाते हुए ।
महासत्वः—महापुरुष ।
मांसोत्कर्तनजा—मांस काटनेसे पैदा होने वाली ।
रुजः—पीडा ।
गात्रम्—शरीर ।
शिरामुखैः—धमनियों द्वारा ।
ऊर्जितम्—साहसपूर्ण वाणी ।
क्षुदुपतप्तः—भूख से व्याकुल ।
शोणित—रक्त ।
तार्क्ष्य—गरुड़ ।
सानौ (सानु)—चोटियों में ।
दिष्टया—भाग्य से ।
प्रतिपालय—प्रतीक्षा करो ।
एनसः—पाप से ।
वैनतेय—गरुड़ ।
पश्चिमः—अंतिम ।
अतिनिर्घृणे—अत्यंत कठोर हृदयवाली ।
उपरतः—मर गया ।
अलीकवादिनी—झूठ बोलने वाली ।

वीर-विग्रह (पृ० ६६)

चमूनाम्—सेनाओं के ।
प्रतीपः—विरोध ।
अन्तकः—यमराज ।
अराति—शत्रु ।
ह्रदः—तालाब ।
घस्मर—घर्षित करने वाले ।
भास्वन्ति—चमकीले ।
समरभरः—युद्ध का भार ।
वले—सेना में ।
अधिक्षेप—निन्दा ।
अपसद—नीच ।
प्रथित—प्रसिद्ध ।
लूनम्—कटा हुआ ।

पुत्रस्नेहः (पृ० ७२)

सरभसम्—शीघ्रता के साथ ।
तुहीन—तुषार, शीत ।
शनम्—शान्ति, शीतलता ।
कायवानस्त्रवेदः—शरीरधारी धनुर्वेद ।
संचयः—राशि ।
महार्घः—बहुमूल्य ।
पतङ्गस्य—सूर्य के ।
हिमरश्मौ—चन्द्रमा में ।
व्यपदेशभागिनः—संकेत वाले, नामवाले अर्थात् तात शब्द से पुकारे जाने वाले ।
प्राचेतस—बाल्मीकि ।
अन्तेवासी—छात्र, शिष्य ।
पीन—स्थूल, कठोर ।

मसृण—कोमल ।
अभिद्रुग्धम्—द्रोह किया ।
बालिशता—मूर्खता ।
अनुयात्रिक—पीछे चलने वाला ।
प्रसृतम्—फैले हुए ।
अकृतकः—प्राकृतिक ।
मयूखः—किरण ।
आग्नेयग्रावा—सूर्यकान्तमणि ।
नकृतः—अपमानित ।
अमर्षः—क्रोध ।
शरदः—वर्षों ।
उपादान—हेतु, कारण ।
यमजौ—एक साथ पैदा होनेवाले, जुड़वा ।
ज्यायान्—बड़े ।

ब्रह्म एव जगतः कारणम् (पृ० ७८)

कुलाल—कुम्हार ।
मृद्—मिट्टी ।
असहायम्—साधनरहित ।
अभिप्रेतम्—इष्ट ।
औष्ण्य—गर्मी ।
क्षीर—दूध ।
अभिध्यान—इच्छा ।
प्रासाद—महल ।
शुक्र—वीर्य ।
वल्ली—लता ।
तन्तुनाभ—मकड़ा ।
लाला—मुँह से निकलने वाली लार ।

कृतक-कलहः (पृ० ८२)

विक्रम्य—बलपूर्वक ।
वाचा वाचमतिशयितुम्—बात से बात लड़ाना, वाद-विवाद करना ।
प्रशस्यतरः—प्रशंसनीय ।
उषितम्—निवास किया ।
सम्मोहमापादिता—मूढ़ बना दिया है ।
अविकत्थनाः—अपने मुँह अपनी बड़ाई न करने वाले ।
बरीयान्—श्रेष्ठ ।
विजिगीषुः—जीतनेकीइच्छा रखनेवाला ।
प्रकृतयः (प्रकृति)—प्रजा ।

लुब्धपान्थ-कथा (पृ० ८६)

प्रवृत्ति—लोभ ।
गतिः—परिणाम ।
मारात्मक—हिंसक ।
दारः—स्त्री ।
इज्या—यज्ञ ।
धृति—धैर्य ।
विरह—रहित ।
पथ्यम्—उपयुक्त आहार ।
नीरुजस्य—नीयोग का ।
नखिनाम्—नाखून से फाड़ कर भोजन करने वाले ।
शृङ्गिणाम्—सींग वालों का ।
ज्योतिषाम्—तारों के ।
कल्मष—अन्धकार ।
प्रोज्झितुम्—मिटाने के लिए ।

बुद्धिबलम् (पृ० ९०)

अपत्यानि—बच्चे ।
संततिः—संतान ।
सोढः—सहन किया ।
विग्रहीतुम्—झगड़ा करने के लिए ।
उपढौकयामः—उपहार स्वरूप देंगे ।
क्रोधाध्मातः—क्रोध से उद्दीप्त होकर ।
तीर्थ—किनारा ।

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति (पृ. ९३)

चणकाः—चना ।

मञ्च—मचान ।
समुत्थाप्य—उड़ाकर ।
उर्वारुक—ककड़ी का पका हुआ फल ।
गुह्यम्—रहस्य, छिपाई जानेवाली बात ।
मनाक्—अल्प, थोड़ा ।

कर्तव्यपरायणदौवारिकः (पृ० ९७)

हरित्सु—दिशाओं में ।
भुशुण्डी—बन्दूक ।
दौवारिकः—द्वारपाल ।
अवतमसवशात्—घने अंधकारके कारण ।
आगन्तारम्—आने वाले को ।
मुमूर्षुः—मृत्यु के समीप पहुंचा हुआ ।
मेदुरा—गभीर ।
प्रहरिणा (प्रहरी)—रक्षक द्वारा ।
द्वाःस्थेन—द्वारपाल द्वारा ।
बटु—ब्रह्मचारी ।
तुरीयाश्रम—संन्यासाश्रम ।
अपरिचायन्तः—परिचय न देने पर भी ।
अन्तराय—विघ्न, बाधा ।
जिगमिषवः—जाना चाहते हैं ।
गुञ्जा—रत्ती ।
जाम्बूनद—सोना ।
जारजाताः—जारोंसे पैदा होनेवाले, नीच।
उत्कोच—घूस ।
गूढचर—गुप्तचर ।
काच-मञ्जूषा—शीशे की पेटी ।
अपाङ्ग—आँखों के किनारे ।
ग्राम्यवराकस्य—ग्रामीण वेचारे का ।

भूषणकवेः शिवराजेन परिचयः (पृ० १०२)

अविदूरे—समीप में ।
शादायाम्—हरी हरी घासों पर ।
केकी—मोर ।
केका—मोर की ध्वनि ।
निष्कृप—कठोर ।
आरात्—समीप से ।
रेणुरूषितरोमकुहरम्—धूल भरे हुए रोहों वाले ।
शफोत्फालित—खुर से उठी हुई ।
मृत्स्ना—मिट्टी ।
ह्रिणत्कार—हिनहिनाहट ।
क्लमम्—थकान ।
पौनःपुन्येन—बार-बार ।
मन्थरितशरीरम्—थके हुए शरीर वाले
स्वेद-क्लिन्नम्—पसीने से तर ।
अतिवाह्य—बिता कर ।
जठरपिटकः—पेट रूपी पेटी ।
कवोष्णयन्—गरमाते हुए ।
अध्वपरिश्रमम्—मार्ग की थकान ।
प्राचीर—चहारदीवारी ।
गवाक्ष—जंगला, झरोखा ।
बर्बरता—उद्दण्डता ।
भूवलये—पृथ्वी-मंडल में ।
ईहासमकालमेव-इच्छा करनेके समयही ।
दीनार—अशरफी ।
वलीमुख—बन्दर ।
द्विजिह्वान्—साँपों को ।
लालाटिक—सेवक, नौकर ।
ऊरीकृत्य—निश्चय करके ।
बिल्वदलम्—बेलपत्र ।
शराव—कुल्हण, पुरवा ।
अलिके—ललाट पर ।
उष्णीष—पगड़ी ।
सपत्नोत्सारणसमीरः—शत्रु को उड़ाने के लिए हवा जैसे,
वृत्तिः—छन्द ।

पद्यभाग

वैदिकास्तुतयः (पृ० ११०)

(ऋग्वेदः)

पुरोहितम्--यज्ञ का अग्रणी ।
ऋत्विजम्--मंत्रोच्चारण करने वाला ।
होतारम्--आहुति देने वाला ।
रत्नधातमम्--रत्न धारण करने वाला ।
ईडे--स्तुति करता हूं ।
ईड्यः--वंदनीय ।
रयिम्--वैभव ।
पोषमेव दिवेदिवे--दिन-दिन बढ़नेवाला ।
सूनवे--सन्तान के लिए ।
सूपायनः--उत्तम वस्तुओं को देने वाले ।
जुहराणम्--संघर्ष करने वाले ।
वयुनानि=कर्मों को ।
एनः--पाप ।

(शुक्लयजुर्वेदः) (पृ० १११)

ईशावास्यम्--परमात्मा से व्याप्त ।
जगत्याम्--प्रकृति के भीतर और बाहर
भुञ्जीथाः--उपभोग करो ।
मागृधः--अभिलाषा न करो ।
जिजीविषेत--जीने की अभिलाषा करनी चाहिए ।
शतं समाः--सैकड़ों वर्ष ।
असूर्या--आसुरी भावों से पूर्ण ।
प्रेत्य--मरकर ।
आत्महनः--आत्महत्या करने वाले ।
हिरण्मयेन पात्रेण --सोने के बर्तन से । अर्थात् लोभ द्वारा ।
पिहितम्--बंद ढँका हुआ ।
अपावृणु--खोल दो ।

(सामवेदः) (पृ० ११२)

वीतये--सर्वत्र प्रकाश देने के लिए ।
हव्यदातये--हव्य को देने के लिए ।
गृणानः--स्तुति करते हैं ।
वर्हिषि--यज्ञ में ।

(अथर्ववेदः) (पृ० ११२)

विश्वा--सम्पूर्ण ।
त्रिसप्ताः--इक्कीस ।
परियन्ति--व्याप्त होते हैं ।
वाचस्पतिः--वाणी का स्वामी ।
देवेन मनसा सह--दिव्य मन के साथ ।
वसोष्पते-वसुओं के स्वामी ।
ज्यया--धनुष की डोरी से ।
आर्त्नी--धनुष की कोटि ।
अन्वयः--माताओं के समान ।
अध्वभिः--मार्गों से ।
जामयः--बहिनों के समान ।
पृञ्चतीः--मिलाती हुई ।

प्रगति-प्रशंसा (पृ० ११३)

पुष्पिण्यौ--पुष्पयुक्त अर्थात् सेवनीय ।
भूष्णु--बढ़नेवाला ।
फलग्रहिः--फल धारण करने वाला ।
भगः--सोभाग्य ।
संजिहान --निद्रारहित ।
श्रेमाणम्--श्रेष्ठता ।

उपनिषद्वचनामृतम् (पृ० ११५)

पीतोदका--जल पी चुकी हुई ।
जग्धतृणा--घास खा चुकी हुई ।
दुग्धदोहा--जिनका दूध दुहा जा चुका है ।
निरिन्द्रिया--संतान उत्पन्न करने में असमर्थ, बूढ़ी ।

ऐमि—चलता हूं।
सस्य—खेती।
वैश्वानरः—अग्नि।
सूनृताम्—सत्ययुक्त प्रियवाणी को।
इष्ट—योगादि से प्राप्त फल।
आपूर्त—बाग-बगीचोंके लगाने से प्राप्तफल
वृङ्क्ते—नष्ट कर देता है।
अनश्नन्—बिना खाए।
वीतमन्युः—क्रोधरहित।
प्रसृष्टम्—भेजने पर।
अशनायापिपासे—भूख-प्यास दोनों।
अध्येषि—जानते हो।
सृङ्काम्—माला को।
निचाय्य—माला को।
प्रणोद्य—तोड़कर।
विचिकित्सा—संदेह, संशय।
अणु—सूक्ष्म।
उपरोत्सीः—रोको।
कामभाजम्—इच्छानुसार उपभोग करने वाला।
छन्दतः—इच्छानुसार।
रामाः—सुन्दरी स्त्रियां।
मानुप्राक्षीः—मत पूछो।
अजीर्यताम्—बुड्ढे न होने वाले।
वर्णरतिप्रमोदान्—सौन्दर्य प्रेम से प्राप्त होने वाले अर्थात् शारीरिक सुख।

मूलरामायणम् (पृ० १२१)

वाग्विदांवरम्—विद्वानों में श्रेष्ठ।
पुङ्गव—श्रेष्ठ।
चारित्रेण—सदाचार द्वारा।
प्रयदर्शनः—सुन्दर।
अनसूयकः—ईर्ष्यारहित।
संयुगे—युद्ध में।
नियतात्मा—आत्मसंयमी।
वशी—इन्द्रियनिग्रही।
वाग्मी—पंडित।
शत्रुनिबर्हणः—शत्रुओंको नाश करने वाला।
कम्बुग्रीवः—शंख के समान गले वाले।
गूढजत्रुः—पुष्टहंसुली वाले गले के नीचे कन्धों तक गई हुई हड्डी को 'हँसुली' कहते हैं।
पीनवक्षाः—चौड़ी छातीवाले।
निषूदनः—नाश करनेवाले।
निष्ठितः—तत्त्वज्ञ।
विचक्षणः—चतुर।

रामहनूमत्संवादः (पृ० १२४)

नियता—दृढ़-अविचल।
चर्यामृतम्—चरित्ररूपी अमृत।
मेघलेखाम्—घटा को।
अनिलः—वायुः।
मामिका—मेरी।
चन्द्राभ्रम्—चंद्रमा जैसा प्रकाशमान।
वैदूर्य—एक प्रकार की मणि।
देही—प्राणी।

सीतापरित्यागः (पृ. १२७)

उषिताम्—निवास करने वाली।
प्रत्यय—विश्वास।
हव्यवाहनः—अग्नि।
वादः—कुचर्चा, निन्दा।
पौर—नागरिक।
समारम्भः—कार्य, प्रयत्न :
श्वः—कल।
विषयान्ते—देश के बाहर।
शापिता—शपथ खिलाए गए हो।

सीतायाः पातालप्रवेशः (पृ. १२९)

वेश्म—घर।

यमजातौ—एक साथ पैदा होनेवाले ।
जनौघम्—मनुष्यों की भीड़ ।
कृतयुगे—सत्ययुग में ।
अवाङ्मुखी—मुख नीचेकी ओर किए हुए
माधवीदेवी—पृथ्वीदेवी ।
शीलम्—पवित्र चरित्र ।

पंडितमूढलक्षणानि (पृ० १३३)

तितिक्षा—सहिष्णता ।
प्रशस्तानि—उत्तम कर्मों को ।
दर्प—अभिमान ।
क्षिप्रम्—शीघ्र ।
गाङ्गो ह्रदः—मान सरोवर ।

सदाचारः (पृ० १३५)

अक्रोधनः—क्रोध न करने वाला ।
अजिह्मः—कपट न करने वाला ।
ब्राह्मे मुहुर्ते—उषाकाल में ।
पुरीष—मल, विष्ठा ।
निर्बन्धः—हठ, जिद ।
ज्ञाति—जाति, बन्धु ।

शिवपार्वती संवाद (पृ० १३८)

वर्णी—ब्रह्मचारी ।
अनुवृत्त—समर्थन ।
वस्तुनिर्बन्धपरे—व्यर्थ वस्तुके लिए हठ करनेवाली ।
ामुक्तविवाहकौतुकः—विवाह का मंगल सूत्र बँधा हुआ ।
लहसलक्षणम्—सुन्दर हंसोंसे चिह्नित ।
धूदुकूलम्—नवविवाहिता की साड़ी ।
लक्तक—लाक्षारंग, पैर रँगने का रंग ।
ितभूमिः—श्मशान ।
द्धोक्षम्—बूढा बैल ।
मेरसुखः—हँसमुख ।
लावतः—चन्द्रमा की ।

वसु—धन ।
व्यस्तमपि—एक भी ।
यूप—यज्ञ का स्तम्भ ।
उपान्त—नेत्रों का किनारा ।
अकिञ्चन—दरिद्र ।
अम्बरौकसाम्—देवताओं के ।

सिंह-दिलीप-संवाद (पृ० १४२)

रंहः—वेग ।
किंकरम्—सेवक को ।
अष्टमूर्तेः—शंकरजी ।
हेमकुम्भस्तन-निःसृतानाम्—सोनेके घड़े के समान स्तनों से निकले हुए ।
कण्डूयमानेन—खुजलाते हुए ।
कटम्—कपोल, कानके नीचे और गले के बीच का भाग ।
अद्रिकुक्षौ—पहाड़ की गुफा में ।
अङ्कागतसत्ववृत्ति—समीप में आये हुए प्राणियों से जीविका करनेवाला ।
प्रदिष्टकाला—उचित समय पर आई हुई ।
सुरद्विपः—राहु को ।
इषुप्रयोगे—बाण प्रयोग करने में ।
वितथप्रयत्नः—असफल प्रयत्न वाले ।
त्र्यम्बकवीक्षणेन—शंकरजी के देखने से ।
वज्रपाणिः—इन्द्र ।
आहिताग्नेः—अग्निपूजक, अग्निहोत्रीकी ।
शकलानि—टूकड़े-टुकड़े ।
आतपत्रम्—राजच्छत्र ।
उपप्लवेभ्यः—विघ्नों से ।
कृशानुः—अग्नि ।
मन्युः—क्रोध ।
ऋद्धम्—ऐश्वर्यपूर्ण ।
प्रतिस्वनेन—प्रतिध्वनि द्वारा ।

उपक्रोश—निन्दा ।
मलीमसैः—मलीन, कलुषित ।
विश्राणनात्—दान देने से ।
परवान्—पराधीन ।
एकान्तविध्वंसिषु—अंतमें नाश होनेवाले ।
पिण्डेषु—शरीरों में ।
गाम्—वाणी को ।
हरये—सिंह के लिये ।
निपातम्—आक्रमण को ।

शरद्वर्णनम् (पृ० १४७)

पलाशैः—नवीन लाल पत्तों से ।
ताम्रोत्पलानि—लाल कमल ।
नयनाम्बुकल्पैः—आँसू के समान ।
निलीन—छिपे हुए ।
मृगावित्—शिकारी ।
मृजान्वयाः—स्वच्छतापूर्ण ।
वितृणान्तरालाः—घास फूस से रहित ।
प्रचयेषु—समूहों में ।

कपिलाश्रमवर्णनम् (पृ० १४९)

आयतनम्—मठ, कुटी ।
विवत्सवः—रहने की इच्छा वाले ।
सुवर्णस्तम्भवर्ष्माणः—सोनेके स्तम्भ के समान शरीर वाले ।
अर्हरूपा—योग्य ।

सेवाधर्मः (पृ० १५१)

कृतविद्यः—विद्वान ।
पार्थिव—राजा ।
स्थाणुवत्—ठूठ पेड़ के समान ।
कृपणम्—कंजूस को ।
अर्क—मदार ।
हाला—शराब ।
हलाहल—विष ।
द्वेषिद्वेषपरः—शत्रुओंसे शत्रुता करने वाले

स्थाने-नियोगः (पृ० १५८)

समीयमानः—समान किया जाता हुआ ।
परिहीयमाण—त्याग किया जाता हुआ ।
धुरि—उच्चपद पर ।
त्रपुणि—कुत्सित धातु में ।
वचनीयता—निन्दा ।
सव्य—वायाँ ।
वराटैः—कौड़ियों द्वारा ।
अरैः—अरों द्वारा (गाड़ी के चक्के की मुण्डी से चक्के की पुट्ठी तक लगने वाली लकड़ी)
नाभिः—मुण्डी ।
शक्तः—शक्तिशाली ।

उद्बोधनम् (पृ० १५८)

द्विषताम्— शत्रुओं की ।
मन्युव्यवसायदीपिनी—क्रोध और प्रयत्न को उदीप्त करने वाली ।
गिरः—वाणियां ।
पमदाजनोदितम्—स्त्रियों से कही हुई ।
अधिक्षेप—अपमान ।
निरस्तनारीसमयाः—शालीनता रूप स्त्री के गुण को समाप्त कर देनेवाली ।
दुराधयः—मानसिक पीडाएँ ।
आखण्डल—इन्द्र ।
मतङ्गजेन—मतवाले हाथी से ।
स्रक्—माला ।
असंवृताङ्गान्—(१)कवचरहित शरीरों को, (२)राज्य अङ्गों से रहित ।
पदातिः—पैदल ।
अन्तर्गिरिरेणुरूषितः—पहाड़ की नीचली भूमि की धूल से आच्छादित ।

प्राज्यम्...बहुत अधिक ।
वासवः...इन्द्र ।
वल्कवासांसि...छाल के वस्त्र ।
शिवारुतैः...गीदड़ों की बोली से।
अन्धसा...भोजन द्वारा ।
बर्हिषाम्...कुशों के ।
निकारम्...अपमान, हार को
लक्ष्म—लक्षण ।
कार्मुकम्—धनुष को ।

कुवलयाश्वेन गालवाश्रमे राक्षसवधः (पृ० १६२)

वाजिना—घोड़े द्वारा ।
गतासून्—निष्प्राण ।
अपास्तबाधम्—बाधारहित ।
परीता—ढँकी हुई ।
कुम्भ—गण्डमंडल ।
उडु—नक्षत्र ।
घोणिरूपः—सूअर का रूप वाला ।
कासार—तालब ।
सेकविधिम्—सींचने—का काम ।
पृथ्वीरुहाम्—वृक्षों का ।
गुल्म—झाड़ी ।

दशावतारवर्णनम् (पृ० १६५)

पदनखनीरजनितजनपावन—पैरों से निकली हुई गङ्गा से लोगों को पवित्र करने वाले ।
जलदाभम्—बादल के समान श्याम ।
हलहति-भीत—बलदाऊ जी के शस्त्र हल की चोट से डरी हुई ।
करवालम्—तलवार ।

सूक्तिसंग्रह

(१) शिवलीला (पृ० १६८)

नगेशः—हिमालय पहाड़ ।
धनेशः—कुवेर ।
समररसिका—युद्ध से प्रेम करनेवाली ।
निम्नगा—नीचे की ओर बहने वाली ।
द्विरदवदनः—हाथी जैसा मुख वाला ।
पुङ्गवेशः—बैल ।
दोषाकरः—चन्द्रमा ।
द्विजिह्वः—सर्प ।
पाषाणजा—पार्वती ।
सहचरी—पत्नी ।
अस्थि—हड्डी ।
उक्षा—बैल ।
कृत्तिम्—व्याघ्रचर्म को ।
श्रीखण्ड—चन्दन ।
हिमाद्रिजा—पार्वती ।
सीमन्तिनी—स्त्री ।
कपालपाणिः—खोपड़ी का खप्पर हाथ में लेकर ।
आखुम्—चूहे को ।
फणी—सर्प ।
क्रौञ्चपतेः—स्वामी कार्तिकेय का ।
शिखी—मोर ।
निर्विण्णः—खिन्न होकर ।
सहस्रास्यः—हजार मुखवाला ।

(२) लक्ष्मी (पृ० १७१)

पन्नगभोगतल्पे—सर्प की कुण्डली की शय्या पर ।
स्ववदनविवरे—अपने मुख में ।
सपत्नी—सौत अर्थात् सरस्वती ।
गेहम्—घर अर्थात् कमल (विल्ववृक्ष भी) ।

माधवयोषा—लक्ष्मी ।

(३) कुभृत्यः (पृ० १७३)

बडावानलः—जल की आग ।

स्तेयव्रते—चोरी के व्रत में ।

खञ्जः—लँगड़ा ।

पङ्गुः—चलने में असमर्थ ।

मृषा—झूठ ।

(४) हास्यम् (पृ० १७४)

मत्कुण—खटमल ।

भूपुत्री—सीता ।

सुभाषितानि (पृ० १७६)

गीर्वाण—देवता ।

भारती—वाणी ।

अश्मताम् गता—रेत बन गई ।

अहार्य—हरण न करने योग्य ।

अनर्घ्य—बहुमूल्य ।

इक्षोर्विकारः—रस, चीनी ।

लेप्यनिर्मितः—मिट्टी से बना हुआ ।

निरपायिनी—शोकरहित ।

कूटानि (पृ० १७९)

केशवं–(१) नारायणं (२) के=जलमें

शवम्—मुर्दे को ।

द्रोणः—(१) द्रोणाचार्य (२) कौवा ।

कौरवाः—(१) कौरवगण (२) गीदड़

दास्यसि—(१) दोगी (२) (दासी+असि) दासी हो ।

उरगः—सर्प ।

—:०:—